काँटों के राही

इन्द्रचन्द्र, एम० ए०

सन्मति ज्ञान पीठ आगरा

साधु-वाद

श्रीयुत 'इन्द्र' जी की मँजी हुई कलम का कला पूर्ण कथाङ्कन मुझे तो बहुत पसन्द आया है, संभव है, दूसरों को भी पसन्द आए !

धुँधले अतीत को वर्तमान का स्पष्ट सुन्दर रूप देने में इन्द्रजी को अच्छी सफलता मिली है, साधुवाद !

—उपाध्याय अमर मुनि

प्रकाशकीय

सन्मति ज्ञान पीठ आगरा का निराला मार्ग है। वह न किसी व्यक्तिविशेष से मोह रखता है और न किसी सम्प्रदाय विशेष से। उसका स्नेह अच्छाई से है, फिर चाहे वह किसी की भी हो।

श्रीयुत इन्द्र एम० ए० का यह कहानी-संग्रह, ज्ञान पीठ ने अपने उसी निराले मार्ग पर प्रकाशित किया है। कहानियाँ उसे पसन्द आई हैं, और इस लिए वह उन्हें प्रकाश में ले आया, बस और कोई नई बात नहीं।

कहानियों के सम्बन्ध में श्री इन्द्रजी ने स्वयं ही अपने आमुख और आत्मनिवेदन में लिख दिया है। उससे इधर-उधर अभी हमें कुछ नहीं कहना है। शेष आनन्द!

—रतनलाल जैन
मन्त्री, सन्मति ज्ञान पीठ
आगरा।

आमुख

कहानी का हृदय पर कितना गहरा प्रभाव होता है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। सभ्यता और संस्कृति के आदिकाल से मानव अपने विचारों का प्रचार करने के लिए इसे अपनाता चला आ रहा है। संसार के बड़े-बड़े धर्म इसी का आश्रय लेकर पनपे और विश्व के कोने-कोने में जा पहुँचे। इसका कारण यही है कि कहानी की आधार-भूमि हृदय है। उसमें उन अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण रहता है जो मानव-मात्र के लिए समान हैं। स्त्री और पुरुष का परस्पर आकर्षण, प्रेमियों का एक दूसरे को प्राप्त करने के दुर्गम पथों को पार करना, भयंकर कष्ट उठाना, विरह में तड़फना और फिर भी निराशा मिलने पर हृदय का टुकड़े-टुकड़े हो जाना, किसी देश विशेष के मनुष्यों में सीमित नहीं है। मनुष्य ही नहीं, पशु-जगत् में भी वे अनुभूतियाँ समान रूप से पाई जाती हैं। कालीदास ने कहा है:—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥

भ्रमर और हरिण की इस कहानी में जिस प्रेम का अभिव्यञ्जन है, वह समस्त प्राणिजगत् की सम्पत्ति है। प्रत्येक हृदय इसका नैसर्गिक

भण्डार है। प्राणिमात्र में समता का सिद्धान्त यहाँ मूर्तरूप में हमारे सामने आ जाता है। इसीलिए कहानी के लिए इस बात का कोई महत्व नहीं है कि उसका नायक चक्रवर्ती सम्राट् है, अभागा भिक्षुक है, पशु है या पक्षी है।

यहीं पर इतिहास और कहानी का मार्ग भिन्न-भिन्न हो जाता है। कहानी अन्तर्भावनाओं को महत्व देती है और इतिहास बाह्य घटनाओं को। इतिहास के लिए घटनानायक का नाम, समय, स्थान आदि महत्व रखते हैं, किन्तु कहानी में वे केवल अवलम्बन हैं। रामायण को यदि इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो यह जानना आवश्यक है कि अयोध्या कहाँ है, राम किस समय हुए, वे वनवास के समय कहाँ रहे, लंका किस मार्ग से पहुँचे, वानर सेना का क्या अर्थ है? किन्तु उसे कहानी के रूप में देखने पर ये सब बातें गौण हो जाती हैं। उस समय मुख्य वस्तु रह जाती है कर्तव्य और कोमल भावनाओं का द्वन्द्व। वाल्मीकि यह बताना चाहते हैं कि कर्तव्य का पालन वही कर सकता है जो अपने अरमानों की चिता जलाकर तापना जानता है। जो हृदय पर पत्थर रखकर एक साधारण-सी बात के लिए अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु को भी त्याग देता है। जो विरह में पागल हो उठता है किन्तु कर्त्तव्य-पालन के समय भूल जाता है कि उसने भी किसी से प्रेम किया है। जो न्याय के आसन पर बैठकर अपनी प्रियतमा को निर्वासित कर देता है। जो वज्र से भी कठोर है और फूल से भी सुकुमार। इस कठोर सत्य की अभिव्यक्ति के लिए उसने राम और सीता को आलम्बन बनाया। वे दोनों कल्पित हैं या ऐतिहासिक, इस बात का विशेष महत्व नहीं है। यदि इन दोनों के स्थान पर लैला मजनू, हीर रांझा, शीरीं फरहाद, राधाकृष्ण या पशु अथवा पक्षि-जगत के दो प्रेमी आ जाते हैं तब भी कहानी का कुछ नहीं बिगड़ता। इतना ही आवश्यक है कि अन्तर्द्वन्द्व अच्छी तरह अभिव्यक्त किया जा सके।

यह अन्तर्द्वन्द्व एक चिरन्तन सत्य है। प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक वह उसी प्रकार चल रहा है, और सदा चलता रहेगा। वे रचनाएँ, जिनमें यह द्वन्द्व चित्रित है, नित्य नवीन हैं। वे अमर हो गई हैं। समस्त विश्व की सम्पत्ति बन गई हैं। देश और काल की सीमा को पार कर गई हैं। इसीलिए प्रेमचन्द ने कहा है—"कहानी कल्पित होने पर भी परम सत्य है और इतिहास सच्ची घटनाओं पर आश्रित होने पर भी मिथ्या।" व्यक्ति का बाह्यरूप तो नश्वर है, क्षणिक है, यदि उपनिषदों की भाषा में कहा जाय तो वाचारम्भणमात्र है। असली रूप तो वही है जिसकी बाह्य अभिव्यक्तियों का नाम इतिहास है।

अभिज्ञान शाकुन्तल की कथा से जो आनन्द एक भारतीय को मिलता है वही पश्चिम के दूर कोने पर बसे हुए अँग्रेज़ को। एक कट्टर हिन्दू और मुसल्मान मन्दिर और मस्जिद में झगड़ते हैं किन्तु प्रेमकथा सुनते समय एक साथ रसपान करते हैं। कहानी मानव को देश और काल की परिधियों से निकाल कर एक ही मानवता के स्तर पर ला कर खड़ा कर देती है। वह जिस प्रकार बालक के लिए रुचिकर है उसी प्रकार विद्वान् के लिए। वहाँ शिक्षा और अशिक्षा तथा उन दीवारों का भी महत्व नहीं रहता जिन्हें सभ्यता और संस्कृति के नाम से मनुष्य ने अपने चारों ओर खड़ा कर लिया है। घर में बूढ़ी दादी के लिए सर्वप्रिय बनने का कहानी उत्तम साधन है।

विविध प्रकार की कलाओं का अभिव्यञ्जन करने के लिए कहानी सुन्दर फलक है। भावों का मनोरम प्रदर्शन बिना किसी कहानी का अवलम्बन लिए अत्यन्त कठिन है। कहानी उसके लिए भूमिका तैयार कर देती है। बौद्ध कालीन मूर्तिकला के विकास में जातकों की कहानियों का उत्कीरण महत्वपूर्ण है। संसार में संगीत का विकास मुख्यरूप से प्रेम-कथाओं पर हुआ है। महाकाव्य इन्हीं पर अवलम्बित हैं। चित्रकला

के उत्कृष्ट उदाहरणों के लिए इन्हीं का आश्रय लिया गया है। संसार के साहित्य का अधिक भाग इन्हीं से भरा हुआ है।

कहानियों की सार्वजनीनता का एक बड़ा प्रमाण यह है कि बहुत-सी कहानियाँ भारत, चीन, ईरान, अरब तथा यूनान आदि सभ्यता के प्राचीन केन्द्रों में एक सरीखी पाई जाती हैं। उन्हें एक देश से दूसरे देश में पहुँचने के लिए न तो राज्याश्रय की आवश्यकता हुई और न किसी संस्था की। बाइबल का विविध भाषाओं में अनुवाद कराने के लिए करोड़ों रुपये खर्च हो गये किन्तु पञ्चतन्त्र की कथाएँ अपने आप सर्वत्र पहुँच गईं। कहानियों की विश्वविख्यात पुस्तक "कलिलग एण्ड दमनग" (Kalilog and Damanog) पञ्चतन्त्र के कथानायक कर्टक और दमनक का ही रूपान्तर है। जैन शास्त्रों में प्रसिद्ध मधुबिन्दु की कथा ब्राह्मण, बौद्ध, इस्लाम, यहूदी तथा ईसाई आदि सभी धर्मों के साहित्य में पाई जाती है। सूफी जलालुद्दीन ने इसका फारसी में अनुवाद किया। पी० रुकर्ट ने जर्मन रूप दिया। ईसाई धर्म की कथा-पुस्तक 'बारलाम एण्ड जोसेफ़' में वह विद्यमान है। इस प्रकार की बीसियों कहानियाँ हैं जो विश्व-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। उनका पहले-पहल जन्म कहाँ हुआ, वे किस प्रकार यात्रा करती हुई संसार के कोने-कोने में पहुँचीं, यह एक रोचक विषय है। इससे प्राचीन देशों के परस्पर सम्बन्ध का पता लगता है। साथ ही हम उस काल में पहुँच जाते हैं जब अपनी-अपनी भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार स्वतन्त्ररूप से विकसित होने पर भी संसार की सांस्कृतिक परम्पराओं ने अपनी-अपनी डफली बजाना नहीं सीखा था। उस समय मानव, संसार के प्रत्येक भाग से जवाहरात लाकर अपने कोष को समृद्ध बनाना चाहता था। जैन साहित्य के साथ संसार के कथा-साहित्य की तुलना के लिए सी० एo टाने (C. H. Tawney) कृत 'कथाकोष' का अनुवाद देखना चाहिए। साथ में विण्टरनिज की "Some Problems

of Indian Literature" (भारतीय साहित्य की कुछ समस्याएँ)।

भारतीय कथा साहित्य

भारतीय साहित्य की अन्य शाखाओं के समान कथा-साहित्य भी धर्म-प्रधान है। पश्चिमी साहित्य में व्यक्ति उलझनों में पड़ कर समाप्त हो जाता है, इसीलिए वहाँ की श्रेष्ठ रचनाएँ दुःखान्त हैं। भारतीय साहित्य में धर्म का आश्रय उसे उबार लेता है। 'न मे भक्तः प्रणश्यति' यह भारतीय साहित्य का ध्रुव पद है। यहाँ दुःखान्त कहानियाँ नहीं हैं। भारतीय जीवन किस प्रकार बदलता गया, वर्तमान रूप धारण करने के लिए उसे किन-किन भूमिकाओं को पार करना पड़ा, यह जानने के लिए कथा साहित्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री है।

श्रमण और ब्राह्मण कथा साहित्य

भारतीय संस्कृति की दो मूल धाराओं के आदर्शों में जो भेद पाया जाता है वह कथा साहित्य में भी प्रतिबिम्बित है। ब्राह्मण कथा साहित्य के नायक पुरातन ऋषि मुनि हैं जो ब्राह्मणों के पूर्वज हैं। उनके नाम से ब्राह्मण जाति में विविध शाखाएँ तथा गोत्र प्रचलित हैं। उनकी तुलना यूनान के कथानायकों के साथ की जा सकती है जो मनुष्य और देवों के बीच एक तीसरी प्रकार के प्राणी थे। जिनका अस्तित्व इतिहास की अपेक्षा पुराण पर अधिक अवलम्बित है। जो देवताओं को सृष्टि रचने में सहायता देते हैं। उनकी पूजा अतिमानव के रूप में की जाती है। आपस्तम्ब में लिखा है—कलियुग में ऋषि उत्पन्न नहीं होते। इस का अर्थ यह है कि ऋषियों की उत्पत्ति के लिए जनता में एक विशेष प्रकार की मनोभूमि की आवश्यकता है जो प्रकृति के नियमों की परवाह न करके आधिदैविक शक्तियों में विश्वास कर सके। साधारण मनुष्य को ब्राह्मण

कथा का नायक बनने का अधिकार नहीं है। अलंकार ग्रन्थों में इसी बात को लेकर नाटक और प्रकरण में भेद किया गया है।

ब्राह्मण कथा साहित्य का नैतिक आदर्श भी उसी के अनुरूप है। उस में वेदाध्ययन, यज्ञ और ब्राह्मणों की पूजा पर अधिक जोर है। ब्राह्मणों को देवों से भी ऊँचा स्थान प्राप्त है। वर्णव्यवस्था का जोरदार समर्थन है। दान का अर्थ है—ब्राह्मणों के प्रति उदारता, पुरोहित को पर्याप्त दक्षिणा। त्याग का अर्थ है पुरोहित या ब्राह्मण के चरणों में सर्वस्व अर्पित कर देना। वही राजा आदर्श एवं स्तुत्य है जो ब्राह्मणों को प्रतिदिन हज़ार गौएँ दान करता है। पुरोहित की आज्ञा का विना विचारे पालन करना और ब्राह्मणों की भक्ति में लीन रहना ही स्वर्ग का मार्ग है। ब्राह्मण को कभी पाप नहीं लगता। वह प्रत्येक अवस्था में वन्दनीय एवं पूजनीय है। इस में संन्यास का विशेष महत्व नहीं है। गृहस्थाश्रम ही प्रधान है। संन्यास का अधिकार तीन आश्रम पार करने के बाद मिलता है और वह भी ऐच्छिक है। बहुत सी कथाएँ तो ऋषियों के कोप से प्रारम्भ होती हैं। एक ब्राह्मण या ऋषि किसी बात पर नाराज़ होकर शाप दे देता है, फलस्वरूप अभिशप्त को विविध प्रकार की अग्नि-परीक्षाओं में से पार होना पड़ता है।

श्रमण कथा साहित्य वैदिक ऋषियों पर आश्रित नहीं है। उसका आधार लोक गीत, प्रचलित कथाएँ तथा वीरगाथाएँ हैं। इसके नायक देवर्षि या ब्रह्मर्षि नहीं हैं किन्तु सांसारिक सुखों का त्याग करने वाले योगी और तपस्वी हैं। तपश्चरण और योगसाधना के प्रसंग ब्राह्मण-कथाओं में भी आते हैं किन्तु वे किसी स्वार्थ-सिद्धि के लिए किए गए, जादू टोने के समान हैं। उनका कोई नैतिक आदर्श नहीं है। वहाँ तपस्या द्वारा वह दिव्य शक्ति प्राप्त की जाती है जिस से देवताओं का स्वामी इन्द्र भी काँपने लगता है। उसके द्वारा एक ऋषि ब्रह्मर्षि बन जाता है। लोग उस से डरने लगते हैं। वह शाप देकर भस्म कर सकता है। ब्रह्म-कोप

और शाप देने वाला दुर्वासा सरीखा ऋषि ब्राह्मणकथासाहित्य की विशेषता है। अगस्त्य सरीखे ऋषियों का अस्तित्व एक पौराणिक कल्पना है जो समुद्र को पीकर पचा जाता है। वह योद्धा भी है, शिकारी भी और संन्यासी भी। उस में देव या मनुष्य की अपेक्षा एक दानव के तत्व अधिक हैं। फिर भी वह ऋषि है।

श्रमण-कथा-साहित्य में तपस्या एक नैतिक आदर्श है। उसका नायक उसे इन्द्रासन या किसी अन्य स्वार्थ की सिद्धि के लिए नहीं, किन्तु मोक्ष के लिए अपनाता है। वह तपस्या के द्वारा प्राप्त शक्तियों का उपयोग दूसरों को शाप देकर नहीं करता। न वह स्वयं किसी से डरता है और न किसी को डराता है। उसकी नैतिकता का केन्द्र बिन्दु है अहिंसा, किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना तथा सभी के साथ मित्रता रखना। इसी की आराधना के लिए वह दुनियावी सुखों का त्याग करता है।

श्रमण संस्कृति में जात पाँत का कोई महत्व नहीं है। वहाँ ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक प्रत्येक व्यक्ति को नायक बनने का अधिकार है। वर्ग और वर्ण का भेद उस में बाधक नहीं होता। यही कारण है, श्रमण कथा साहित्य जन-साहित्य है। उसमें सर्व साधारण के रहन सहन तथा आदर्शों का चिन्तन है। ब्राह्मण कथा साहित्य राजर्षियों और ब्रह्मर्षियों तक सीमित है। वह उच्च वर्ग तक परिमित है।

श्रमण कथा साहित्य की धुरी कर्म सिद्धान्त है। व्यक्ति अपने ही भले और बुरे कार्यों के अनुसार नए-नए जन्म ग्रहण करता है, सुख दुःख भोगता है, फिर नए कर्म करता है और उनका फल प्राप्त करता है। इसी चक्र में घूमता हुआ जब वह अपनी प्रवृत्ति को आत्ममुखी बना देता है तो उसे असली रहस्य मिल जाता है। उसके बाद वह सतत विकास करता हुआ आत्मविकास के चरम लक्ष्य पर पहुँच जाता है। इसी का नाम मोक्ष है। जीव ही उस समय परमात्मा बन जाता है।

संसार के समस्त दुःखों का कारण तृष्णा या मोह है। इसी से

अभिभूत होकर जीव विविध प्रकार के दुःख भोगता है। इस लिए श्रमण साहित्य में मोह के त्याग पर बहुत जोर दिया गया है। इसी को गीता में अनासक्ति के रूप में बताया गया है।

प्रस्तुत संग्रह

बौद्ध कहानियों का संग्रह जातकों के रूप में प्रकाशित हो चुका है। जैन कहानियों के भी कई संग्रह हिन्दी और गुजराती में निकले हैं। वे प्रायः अनुवाद तक सीमित हैं। मैंने कथा का शरीर शास्त्रों से लिया है और कपड़े अपने पहनाए हैं। नए रूप में उपस्थित करते समय हो सकता है कोई बात ऐसी आगई हो जो उस समय नहीं थी। किन्तु मैंने जानकर उस ओर ध्यान नहीं दिया। मेरा तो एकमात्र ध्येय है उन कहानियों को रोचक और उपयोगी बनाकर सबके सामने रखना। इस ध्येय में सफलता कहाँ तक मिली है, यह पाठक स्वयं निर्णय करेंगे।

३० नवम्बर १९४९
जैनाश्रम
हिन्दू-विश्व-विद्यालय, काशी

इन्द्रचन्द्र शास्त्री एम. ए.
शास्त्राचार्य, वेदान्तवारिधि
न्यायतीर्थ

आत्म निवेदन

उस समय मेरी आयु नौ वर्ष की थी। पंजाबी स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय के मुनि श्री जवाहरलालजी महाराज का चातुर्मास बीकानेर था। उनके साथ तीन साधु और थे। एक थे तपस्वी विनयचन्द जी। दृष्टिहीन होने के कारण वे प्रायः एक ही स्थान पर बैठे रहते थे। मुझे उनका जब जब स्मरण आता है तो सेठियाजी के विशाल भवन का वह स्थान भी सामने आ जाता है जहाँ वे पलाथी मारकर बैठे रहा करते थे।

मुनि जवाहरलालजी तथा तपस्वीजी मुझे धर्म की बातें सिखाते थे, थोकड़े रटाते किन्तु उनमें कोई रस न आता। फिर भी उन्हें सीख लेता था, क्योंकि मेरे सामने एक प्रलोभन था। थोकड़ा या प्रतिक्रमण का पाठ सीख लेने के बाद तपस्वीजी एक कहानी सुनाया करते थे। उसी प्रलोभन से मैं बहुत से थोकड़े सीख गया और साधु एवं श्रावक दोनों के प्रतिक्रमण भी। अब भी जब किसी जैन कहानी को पढ़ता हूँ तो तपस्वी जी याद आते हैं और तपस्वीजी की याद के साथ कहानियाँ याद आती हैं।

सेठिया संस्था के विद्यार्थी जीवन में थोकड़ों की कई बार परीक्षा हुई। बाद में भी उनका काम पड़ता रहा। कहानियों को कभी नहीं

दोहराया। फिर भी उनकी स्मृति अभी तक शेष है। यह तो नहीं कह सकता कि हूबहू उसी रूप में याद हैं किन्तु उनके संस्कार नहीं मिटे हैं। वे जीवन में ओत प्रोत हो गई हैं। वे उस बीज के समान विलीन हो गई हैं जो अपना अस्तित्व खोकर फल और फूलों से लदे हुए वृक्ष के रूप को धारण कर लेता है।

१९३८ में जब बी० ए०. की तैयारी कर रहा था तो अंग्रेजी कहानियों का एक संग्रह पाठ्यक्रम में नियत था। उसमें कुछ कहानियाँ बाइबल से ली गई थीं। वे बड़ी रोचक प्रतीत हुईं। किन्तु उन्हीं को जब बाइबल में पढ़ा तो वह बात न मिली। मन में आया, यदि धार्मिक कहानियों को थोड़ा परिष्कृत करके जनता के सामने रखा जाय तो वे अत्यधिक रोचक और शिक्षाप्रद बन जाएँगी। मेरा ध्यान जैन कहानियों की ओर गया और उस विशाल साहित्य समुद्र पर जिसमें रत्न ही रत्न भरे हैं। आवश्यकता है केवल उनको बाहर लाकर कलापूर्ण प्रदर्शन की। विचार आया किन्तु मन में ही रह गया।

उसके बाद अध्यापक बनकर मद्रास चला गया। उस समय सोलह सतियों का जीवन चरित्र लिखा किन्तु वह यों ही पड़ा रहा। इसका मुख्य कारण था नए लेखक तथा विचारों को प्रोत्साहन देने वाली योग्य प्रकाशन संस्था का अभाव। जैन समाज में प्रायः साधुओं की प्रेरणा के बिना कोई चीज़ नहीं छपती और वे उसे अपने ही नाम से छपाना चाहते हैं। यदि कोई चीज़ छप भी गई तो परिश्रम का उचित आदर करने के स्थान पर लेखक पर ही उपकार लादने का प्रयत्न किया जाता है। लेखक अपने परिश्रम का सम्मान चाहता है और यह भी चाहता है कि उस पर अधिक से अधिक लोगों की दृष्टि पड़े।

बीकानेर में 'श्री जैनसिद्धान्त बोल संग्रह' का सम्पादन करते समय मुनि श्री मिश्रीमल जी का पत्र मिला। उन्होंने नवीन साहित्यिक प्रवृत्ति प्रारम्भ करने के लिए एक योजना माँगी। मैंने तीन बातें लिखीं :—

(१) जैन शास्त्रों को इस प्रकार सम्पादित किया जाय, जिससे वे नवीन मस्तिष्क के लिए रोचक और प्रेरणाप्रद बन सकें।

(२) मूल आगमों के आधार पर तुलनात्मक दृष्टि से एक पुस्तक लिखी जाय जिससे जैन तत्वज्ञान और आचार शास्त्र का ठीक-ठीक परिचय हो सके।

(३) जैन कथासाहित्य को नया रूप दिया जाय।

मुनि श्री को बातें पसन्द आईं किन्तु कार्य प्रारम्भ करने के लिए आवश्यक सहयोग न प्राप्त कर सके। भिवानी कालेज में नियुक्त होने के बाद उन्होंने फिर साहित्य निर्माण के विषय में लिखा। १९४७ के ग्रीष्मावकाश में मैं उनके पास पहुँच गया।

हम दोनों ने मिलकर आचारांग के आधार पर तीन पुस्तकें तैयार कीं, वे छप रही हैं। अतिरिक्त समय में मैंने कहानियाँ लिखना प्रारम्भ किया और लगभग एक महीने में पन्द्रह कहानियाँ लिख गया। भिवानी आने के बाद उन्हें दुबारा लिखा। प्रायः सभी को नया रूप दे दिया। संग्रह का नाम रखा पूर्णिमा।

उन दिनों दिल्ली में उपाध्याय कविवर मुनि श्री अमरचन्द्रजी महाराज विराजमान थे। उन्होंने संग्रह देखकर प्रसन्नता प्रकट की और तभी सन्मति ज्ञानपीठ से प्रकाशित करने के लिए विचार-चर्चा भी हुई। किन्तु परिस्थितिवश एक साल और निकल गया और संग्रह प्रेस में न जा सका। मैंने बनारस आकर अवकाश के समय चार कहानियाँ और लिखीं और वे उस में जोड़ दीं। नाम रख दिया 'काँटोंके राही'।

गत पर्युषण पर कविजी ने क्षमापना पत्र में फिर पूर्णिमा के विषय में पूछा। और मैंने सेठ रतनलालजी के नाम ज्ञानपीठ के लिए संग्रह भेज दिया। यही इस पुस्तक की कहानी है।

संग्रह की पहली कहानी 'अन्तिम अभिनय' भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित 'ज्ञानोदय' के प्रथम अंक में निकल चुकी है। उसे काफी पसन्द

किया गया। इलाहाबाद से प्रकाशित 'मनोहर कहानियाँ' ने उसे अपने सितम्बर के अंक में उद्धृत किया। अहमदाबाद से प्रकाशित गुजराती 'संदेश' के दीपमालिका अंक में उसे अनूदित किया गया। इससे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यदि जैन कहानियों को नए रूप में उपस्थित किया जाय तो वे सर्वसाधारण को अपनी ओर आकृष्ट कर सकती हैं। यदि प्रस्तुत संग्रह जैनसमाज के कर्णधार तथा उदार साहित्यसेवियों का ध्यान श्रमण कहानी साहित्य की ओर खींच सका तो अपना प्रयत्न सफल मानूँगा।

मैं यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि प्रस्तुत पुस्तक कहानियों का संग्रह है। इसमें वर्णित घटनाओं को इतिहास की कसोटी पर कसना उचित नहीं है। फूल की परीक्षा उसकी सुगन्ध तथा रूप से होती है। कसोटी पर घिसने के लिए सुवर्ण सी कठोरता चाहिए। दोनों का अपना-अपना क्षेत्र है, अपना-अपना ध्येय। फूल प्रकृति की मनोरमता का प्रतीक है, सुवर्ण पृथ्वी की अन्तर्हित सम्पत्ति का। एक का क्षेत्र हृदय है, दूसरे का परिग्रहबुद्धि। एक क्षण भर मुस्कुराकर मुर्झा जाने में ही जीवन का सार मानता है दूसरा सञ्चित होकर पड़ा रहने में। कहानी में फूल सी सुकुमारता है। ऐतिहासिक तथ्यों में स्वर्ण सी कठोरता। इसलिए कहानी को कहानी की दृष्टि से ही पढ़ना चाहिए।

इस प्रयत्न को उत्तरोत्तर अधिक सुन्दर और उपयोगी बनाने के लिए विज्ञ पाठक जो सुझाव देंगे उनका हार्दिक स्वागत किया जाएगा।

आभार प्रदर्शन

प्रस्तुत संग्रह में चार को छोड़ शेष सभी कहानियों की कथावस्तु जैन शास्त्रों से ली गई है, किन्तु सुझाव देने का श्रेय मुनि श्रीमिश्रीमलजी (वर्तमान पूज्य श्रीजसवन्तमलजी) को है। प्राय: वे सुना देते थे और मैं लिख लेता था। 'सन्त-हृदय' 'वैरागी' और 'अनोखामन्त्र' सच्ची घटनाओं

पर आश्रित हैं, किन्तु वे भी उन्हीं की सुनाई हुई हैं। उनके साथ मेरा जिस प्रकार का सम्बन्ध है उसे देखते हुए 'आभार प्रदर्शन' रूखा सा प्रतीत होता है।

'नाटक की परीक्षा' श्रीचुन्नीलाल वर्धमान शाह की 'निर्वेद' कहानी के आधार पर लिखी है। 'अन्तिम याचना' का आधार एक बौद्ध कहानी है। वह श्रीमेघाणी की 'एक डुबकी' का भावानुवाद है। मैं गुजराती के इन दोनों सिद्धहस्त लेखकों का ऋणी हूँ।

संग्रह को सुन्दर रूप में तथा अत्यल्प समय में प्रकाशित करने के लिए मैं ज्ञानपीठ के मन्त्री सेठ रतनलालजी जैन का आभारी हूँ। कविश्रीजी की प्रेरणा से भी मुझे बहुत उत्साह प्राप्त हुआ है। एतदर्थ मैं आपका स्नेहानुग्रह भी यहाँ स्मरण करता हूँ।

३० नवम्बर १९४९
जैनाश्रम
हिन्दू-विश्व-विद्यालय, काशी

इन्द्रचन्द्रशास्त्री एम. ए.
शास्त्राचार्य, वेदान्तवारिधि
न्यायतीर्थ

विषय-सूची

कांटों के राही

१

आषाढ़भूति की अवस्था अभी छोटी ही थी। बुद्धि में तीव्रता थी, स्वभाव में नटखटपन और अंगों में कोमलता। मुनिव्रत ले लेने पर भी ये बातें निर्मूल नहीं हुई थीं। कभी कभी बालसुलभ चञ्चलता का उभार आ जाता और शरारत करने को जी मचल उठता। यौवन के पदार्पण के साथ हृदय में वासना की लहर भी उठने लगी। यद्यपि ऐसा कोई कार्य नहीं किया जिससे वे संयम-भ्रष्ट कहे जाते, किन्तु कभी कभी मन को वश में रखना कठिन हो जाता। वे उस दशा में नहीं पहुँचे थे जब विकार के हेतु उपस्थित होने पर भी मन विकृत नहीं होता। संयम में उत्साह था किन्तु कभी कभी उदासीनता भी आ जाती।

अपने गुरु आचार्य धर्मरुचि के साथ विचरते हुए वे राजगृही आये। राजगृही मगध की राजधानी थी। विविध प्रकार के कलाकार, बड़े बड़े व्यापारी तथा विद्वान् उसकी शोभा को बढ़ा रहे थे। वहीं नाट्याचार्य विश्वकर्मा अपनी मण्डली के साथ रहते थे। अभिनय कला के लिये यह मण्डली दूर दूर तक प्रसिद्ध थी। विश्वकर्मा अभिनेता तथा अभिनेत्रियों के चुनाव तथा शिक्षण में बड़े पटु थे। उनकी दो कन्यायें थीं—रम्भा और शची। दोनों सुन्दरी थीं और नृत्यकला में प्रवीण थीं।

आषाढ़भूति भिक्षा के लिये घूमते हुए आचार्य विश्वकर्मा के घर पहुँचे। भिक्षा में एक लड्डू मिला। बाहर आकर आषाढ़भूति ने सोचा—"एक लड्डू से क्या होगा? यह तो आचार्य के हिस्से में आयगा। उनके बाद उपाध्याय का नम्बर है। फिर गणावच्छेदक का। तब कहीं बारी आएगी।" उसने काने का रूप बनाया। एक लड्डू और मिल गया। फिर कुबड़े का और फिर कोढ़ी का। दो लड्डू और मिल गये।

विश्वकर्मा ऊपर बैठा हुआ आषाढ़भूति के रूप-परिवर्तन को देख रहा था। उसने सोचा—यह साधु रूप बदलने में बड़ा कुशल है। यदि हमारी नाट्य मण्डली में सम्मिलित हो जाय तो रुपया बरसने लगे।

वह नीचे उतरा। मुनि को बड़े आदर के साथ फिर घर में ले गया और लड्डुओं से पात्र भर दिया। दोनों कन्याएँ समीप ही खड़ी थीं। साधु की दृष्टि उन पर पड़ी और उनकी साधु पर।

आषाढ़भूति विश्वकर्मा के घर प्रायः आने लगे। कन्याओं से वार्तालाप भी होने लगा। विश्वकर्मा ने कोई आपत्ति न

की। उनकी तो एकमात्र इच्छा थी, आषाढ़भूति किसी प्रकार नाट्यमण्डली में सम्मिलित हो जायँ।

आषाढ़भूति खिंचे जा रहे थे। आत्मनियंत्रण शिथिल पड़ रहा था। बार बार मन को समझाते। रात्रि को प्रतिज्ञा कर के सोते कि अब कभी उधर नहीं जाऊँगा। किन्तु दूसरे दिन भिक्षा का समय होते ही वह शिथिल पड़ जाती। पैर अपने आप उधर चल पड़ते। सौंदर्य का आकर्षण विवेक बुद्धि को ग्रस लेना चाहता था। कई बार गुरु तथा अपने व्रत का ध्यान आया। पतन के भीषण परिणाम भी दिखाई दिये। वे रुकना चाहते थे किन्तु उसमें समर्थ न हो रहे थे। उनकी दशा उस व्यक्ति के समान थी जो पहाड़ पर से गिर रहा है। सामने भीषण गर्त है। आखें खुली हुई हैं। चाहता है, रुक जाऊँ। किन्तु रुक नहीं सकता। वे विष के प्याले को पी रहे थे। चाहते थे, न पिऊँ। किन्तु उसे ओठों से अलग करने की शक्ति न थी। मनुष्य जब तक पैर जमाए खड़ा रहता है अपने आप को नहीं फिसलने देता, नहीं फिसलता। किन्तु जैसे ही एक पैर फिसला फिर सम्हलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है।

आषाढ़भूति फिसल चुके थे नहीं सम्हल सके। एक दिन कन्याओं ने विवाह का प्रस्ताव रखा। वे अस्वीकार न कर सके। धर्म और व्रत का ध्यान आया। गुरु के उपदेश याद आये किन्तु व्यर्थ सिद्ध हुए। यह बात नहीं थी कि वे धर्म को व्यर्थ मानते थे। उसके प्रति रुचि अब भी वर्तमान थी। किन्तु अपने को विवश अनुभव कर रहे थे और बलात् विपरीत दिशा में खिंचे जा रहे थे।

उपाश्रय में जाकर उन्होंने रजोहरण, वस्त्र, पात्र आदि साधु

के चिह्न गुरु के चरणों में रख दिये और विदा होने की अनुमति माँगी। गुरु ने बहुत समझाया। वे चुपचाप सुनते रहे अन्त में कहा—"भगवन् ! मुझे क्षमा कीजिये। मैं थका हुआ पथिक हूँ। छाया देखकर पैर भारी हो गये हैं। अब बिना विश्राम किए आगे न बढ़ सकूँगा। मैं प्रयत्न करूँगा कि यह विश्राम मेरी प्रगति को सदा के लिए न रोक दे। यह भी संभव है कि यह उसे द्विगुणित कर दे। नवीन उत्साह और नया बल प्राप्त करके मैं वर्षों के मार्ग को दिनों में पूरा कर लूँगा।"

गुरु से विदा लेकर आषाढ़भूति विश्वकर्मा के घर चले आये। दोनों कन्याओं से विवाह कर लिया। विलासिता में दिन कटने लगे किन्तु वासना उनके विवेक को पूरी तरह न ढक सकी। कभी कभी पुराने संस्कार जाग उठते और वर्तमान जीवन फीका सा मालूम पड़ने लगता। मर्यादा का बाँध सर्वथा न टूटा था। पत्नियों का आग्रह होने पर भी कभी मदिरापान नहीं किया। कभी मांस सेवन नहीं किया। जब गुरु का उपदेश याद आता तो आत्मग्लानि सी होने लगती।

मानव-स्वभाव एक पहेली है। उसके लिए अप्राप्य वस्तु में जितना आकर्षण है उतना प्राप्य वस्तु में नहीं। अप्राप्ति की अवस्था में मनुष्य जिसके लिये सर्वस्व अर्पित करने को उद्यत रहता है, प्राप्त होने पर वही साधारण सी बन जाती है। सारा आकर्षण, सारा सौंदर्य, सारा माधुर्य पता नहीं कहाँ विलुप्त हो जाता है ? तो क्या ये सब बातें छलना है ? मरुमरीचिका हैं ? किन्तु प्रगति का बीज भी इन्हीं में सन्निहित है। यदि ये न हों तो मनुष्य जहाँ खड़ा है, वहीं रह जाय। यदि प्यासे हरिण को मरीचिका में जल का भान न हो तो

वह क्यों दौड़े ? छलना तो वह उसके लिए है जो जल पीकर प्यास बुझाना चाहता है। जिसने प्यास से व्याकुल होकर दौड़ते रहना ही अपना लक्ष्य बना लिया है उसके लिये वह यथार्थ है, उसके लिए तो जलाशय ही छलना है।

आषाढ़भूति जिस समय मुनि थे, गार्हस्थ्य में आकर्षण प्रतीत होता था। अब विवाह कर लिया तो मुनिव्रत याद आता था। पता नहीं, मनुष्य ने वर्तमान अवस्था में सन्तुष्ट रहना क्यों नहीं सीखा ? सतत अतृप्ति, उसके स्वभाव में अन्तर्हित है। सन्तोष का उपदेश उस पर कृत्रिम आवरण भले डाल दे, किन्तु वह स्थायी स्वभाव नहीं बनता। विश्वकर्मा मानव-स्वभाव के अच्छे पारखी थे। आषाढ़भूति की यह दुविधा उनसे छिपी न रही। कन्याओं को अच्छी तरह समझा दिया कि इनके साथ बर्ताव करने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। कोई भी ऐसा प्रसंग नहीं आने देना चाहिए जिससे इनकी विरक्ति बढ़ जाय। इनके सामने न तो कोई वीभत्स दृश्य आना चाहिए जिससे इन्हें ग्लानि उत्पन्न हो और न कोई ऐसी उलझन उपस्थित होनी चाहिए जिससे ये घबरा जायँ। कन्याएँ पिता के आदेश का पूर्णतया पालन करने लगीं और प्रतिदिन इस प्रकार सचेष्ट रहने लगीं, जिससे आषाढ़भूति उत्तरोत्तर अधिक आकृष्ट होता जाय।

आचार्य विश्वकर्मा की नाट्यमण्डली चमक उठी। आषाढ़भूति का अभिनय देखने के लिए जनता टूट पड़ती थी। लोग दूर-दूर से चलकर आते। भावों की अभिव्यक्ति, अंगों का परिचालन, नेपथ्य, उक्ति, प्रत्युक्ति आदि सभी बातों में उत्कृष्टता थी। दोनों कन्याएँ साथ रहतीं। आषाढ़भूति

नायक होते तो शची नायिका और रम्भा प्रतिनायिका। उनके कारण अभिनय और भी आकर्षक बन जाता।

एक दिन राजगृह के तत्कालीन राजा सिंहरथ ने अभिनय देखने की इच्छा प्रकट की। सिंहरथ अधेड़ अवस्था के क्षत्रिय नरेश थे। शृङ्गार की अपेक्षा वीर और शान्त रस को अधिक पसन्द करते थे। उन्होंने आचार्य विश्वकर्मा को एक प्राचीन कहानी सुनाई जो शान्तरस प्रधान थी और स्त्री पात्रों से शून्य थी। उसी कथावस्तु के आधार पर नाटक रचकर अभिनय करना था।

विश्वकर्मा और आषाढ़भूति ने परिश्रम से नाटक तैयार किया। पात्रों को अभ्यास कराया और निश्चित तिथि पर सन्ध्या समय अभिनय के लिये राजदरबार में पहुँच गए।

शची और रम्भा ने उसे छुट्टी का दिन समझा। सोचा— आज आषाढ़भूति अकेले गए हैं। राज दरबार में नाटक है, रात समाप्त होने से पहले क्या लौटेंगे? आज अपने मन की इच्छा पूर्ण कर ली जाय। दोनों ने जी भरकर मदिरा पान कया। मांस खाया। बहुत दिनों से रुकी हुई लालसा को तृप्त किया। नशे में मतवाली होकर दोनों ऊपरवाले कमरे में सो रहीं। न वस्त्रों की सुधबुध रही और न किसी बात की।

अचानक राजसभा में एक दूत आया और उसने शत्रु द्वारा किए गए आक्रमण की सूचना दी। राजा तथा सभी अमात्य चिन्ता में पड़ गए। नाटक का कार्यक्रम स्थगित कर दिया गया। सभी अभिनेता अपने अपने घर चले गये।

आषाढ़भूति सीधा ऊपरवाले कमरे में पहुँचा। दोनों बेसुध सो रही थीं। शरीर से वस्त्र हटे हुए थे। मुँह से झाग निकल रही थी। सारे कमरे में दुर्गन्ध फैल रही थी। वह

नग्नरूप आषाढ़भूति को बहुत ही बुरा लगा। मन में आया, "क्या अस्पष्टता का नाम ही सौंदर्य है? वही रूप जब वस्त्र और आभूषणों से आवृत होकर, कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट मेरे सामने आता था, कितना आकर्षक प्रतीत होता था? कितना मोहक था! वही अनावृत रूप में कैसा वीभत्स प्रतीत होता है! सौंदर्य का असली स्थान कहाँ है? ऐसा कौन सा तत्त्व है जिससे सौंदर्य का स्रोत उद्भूत होता है, जो समीप पहुँचने पर अधिकाधिक तृप्ति और आनन्द को पान करता है? जो चकाचौंध के कारण दूर से ही सुन्दर प्रतीत होता है, वह तो मृग-मरीचिका है, गन्धर्व नगर है। वास्तविक जलाशय तो ज्यों ज्यों समीप जाओ, अधिक शक्ति प्रदान करता है। अन्दर प्रवेश करने पर और भी अधिक। जो समीप आने पर विराग और निराशा के रूप में परिणत हो जाय वह मिथ्या है, भ्रम है, अयथार्थ है। मैंने इस अयथार्थ के लिये कितने नाच नाचे! अपने को कितना गिराया! मैं इसके पीछे पागल हो गया।" उसका हृदय आत्मग्लानि से भर गया।

आषाढ़भूति को नींद नहीं आई। प्रातः होते ही उसने जाने का विचार प्रकट किया।

विश्वकर्मा सदा सशङ्क रहता था। आषाढ़भूति को उद्विग्न देखकर उसने कन्याओं से सारा हाल पूछा। प्रमाद के लिए उसने भर्त्सना की तथा उसे किसी प्रकार मना लाने के लिए कहा। साथ में यह भी कह दिया, यदि वह किसी प्रकार न माने तो उससे अपनी आजीविका का प्रबन्ध करने के लिए कहना।

कन्याओं ने सब तरह से प्रयत्न किया। हाव भाव दिखाए, रूठीं, गिड़गिड़ाईं, उपभुक्त विषय भोगों की स्मृति दिलाई,

अपनी भूल पर पश्चात्ताप किया, क्षमा माँगी, किन्तु आषाढ़भूति निश्चल रहे। अन्त में कन्याओं ने आजीविका की बात छेड़ी। बोलीं—"हम दोनों आपकी विवाहिता स्त्रियाँ हैं। आपके चले जाने पर हमारा भरण पोषण कौन करेगा? हमारी आजीविका के लिये भी तो कोई प्रबन्ध होना चाहिए?"

आषाढ़भूति अटक गए। उत्तरदायित्व को पूरा किए बिना आत्म-साधना अधूरी है। मन में अपने संकल्प को दृढ़ रखते हुए आषाढ़भूति धन सञ्चय का उपाय करने लगे।

एक नाटक की रचना की। नाम रखा—'विदा।' प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत राज्य-सिंहासन पर बैठे। विजय यात्रा की। छह खण्डों पर राज्य स्थापित किया। चौदह रत्न तथा नौ निधियों के स्वामी बने। शीशमहल बनाया। राजसी वेश में सजधज कर उसमें प्रवेश किया। एक अँगूठी नीचे गिर पड़ी। अँगुली की चमक जाती रही। वह निस्तेज और मलिन सी दीखने लगी। यह क्या? क्या सारी शोभा अँगूठी की थी? इस औपाधिक और अस्थायी सौन्दर्य के लिए प्रफुल्लित होना अज्ञानता है। विचार के साथ-साथ वैराग्य भावना बढ़ती गई। दूसरे आभूषण उतार कर देखा। जिस अंग का आभूषण उतारा जाता, वही फीका पड़ जाता। मुकुट उतार कर देखा। सिर की वह शोभा न रही। हीरे के हार उतारे। छाती निस्तेज हो गई। वैराग्य भावना उत्कृष्ट होती गई। अस्थायी वस्तुओं का मोह दूर हो गया। वहीं आत्मसाक्षात्कार हो गया। वे घर-बार छोड़ कर चल पड़े। साथ में पाँच सौ राजकुमार दीक्षित हो गये।

इसी कथावस्तु पर आषाढ़भूति ने सुन्दर नाटक रचा।

योग्य पात्रों का चुनाव कर के उचित शिक्षा दी। रंगमंच तैयार किया गया। अभिनय की तिथि निश्चित हो गई।

अभिनेता के रूप में आषाढ़भूति की ख्याति दूर दूर तक फैली हुई थी। यह उसका अन्तिम नाटक था। लम्बे समय से तैयारियाँ हो रही थीं। देखने के लिये बड़े बड़े राजा तथा सेठ आए। सभास्थान खचाखच भर गया।

आषाढ़भूति स्वयं नायक था। भरत का अभिनय वही कर रहा था। लोग देख देख कर चकित हो रहे थे। पारितोषिक के रूप में आभूषण तथा मोहरों की वर्षा हो रही थी।

अन्तिम दृश्य आया। शीशमहल के परदे खिंच गए। चक्रवर्ती भरत के रूप में आषाढ़भूति का प्रवेश हुआ। चारों ओर विशाल दर्पण थे। दिव्य वेशभूषा के कारण सारा मंच जगमगा उठा। राजकीय ऐश्वर्य और प्रभुत्व के अभिमान से भरे हुए भरत नपे तुले कदमों के साथ घूमने लगे। अपना दिव्य प्रतिविम्ब देख कर वे बार बार प्रफुल्लित हो उठते।

इतने में अँगूठी गिरी! अँगुली निस्तेज हो गई।

"यह क्या? क्या सारा सौन्दर्य इसी का था!" भरत ने आश्चर्य और व्याकुलता के साथ कहा।

क्रमशः दूसरे आभूषण उतारे। अंग फीके पड़ते गए। सारा शरीर निष्प्रभ हो गया। मुकुट भी उतार दिया। ललाट का तेज समाप्त हो गया।

भरत ने स्वगत के रूप में कहा—"यह क्या! मैं जिस चकाचौंध पर प्रसन्न हो रहा था वह क्षण भर में विलुप्त हो गई! क्या मैं इसी पर मुग्ध था? मुकुट उतारते ही सारा तेज

चला गया। क्या सारा तेज इसी मुकुट का है? मेरा अपना कुछ नहीं है? यह वेशभूषा तो अस्थायी है, कृत्रिम है। यह मुझे सदा सुन्दर नहीं रख सकती। भौतिक वस्तुएँ कितनी परिवर्तनशील हैं? पल भर में कुछ का कुछ हो गया। सारा संसार अनित्य है। हाथी, घोड़े, पदाति तथा रथ सभी अनित्य हैं। अन्त समय में वे मुझे न बचा सकेंगे। मेरा साम्राज्य, मेरे महल, प्राकार, दुर्ग सभी नश्वर हैं। मेरा यह शरीर भी नश्वर है। एक आत्मा नित्य है। क्यों न मैं आत्मा को प्राप्त करूँ? यदि शाश्वत सुख चाहिए तो आत्मा को प्राप्त करना होगा। भौतिक वस्तुओं से नाता तोड़ना होगा। उन्हें विदा देनी होगी।"

उसी समय उसे बोध प्राप्त हो गया। उसी वेश में रंगमंच से बाहर निकलने लगा। पीछे पीछे पाँच सौ राजकुमार थे।

मगध-सम्राट् ने कहा—"भगवन्! अब तो नाटक समाप्त हो गया। आप कहाँ जा रहे हैं?"

"जहाँ भरत चक्रवर्ती गए हैं, हमारा नाटक वहीं पहुँचने पर समाप्त होगा।" आषाढ़भूति वापस न लौटे।
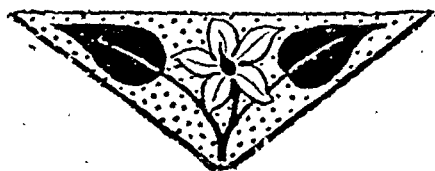
सामायिक का मूल्य

२

एक श्रावक था। वह पूनियाँ कात कर अपना निर्वाह करता था। यह बात नहीं है कि उसके पिता निर्धन थे, या उन्होंने उसे कुछ नहीं दिया था। उसके पिता नगर के इभ्य थे। इने-गिने प्रमुख धनवानों में पहला नहीं तो दूसरा नम्बर अवश्य रहा होगा। धन, धान्य, हाथी, घोड़े, दास दासी, महल, प्रासाद आदि किसी वस्तु की कमी न थी। देश तथा विदेश में व्यापार फैला हुआ था। जलमार्गों पर जहाज़ चलते थे और स्थल-मार्गों पर सार्थ।

किन्तु पूनिया संचय को पाप समझता था। बहती हुई हवा सभी के लिए है। इसमें सभी साँस ले सकते हैं। यदि कोई उसे रोक कर बैठ जाय और दूसरों को साँस न लेने दे

तो उसे क्या कहा जाएगा ? वह पापी नहीं तो और क्या है ? नदी का बहता हुआ जल सभी की प्यास बुझाता है। उस पर घाट बाँधकर यदि कोई सार्वजनिक सुख की वृद्धि करना चाहता है तो करे, किन्तु यदि घाट बाँधकर वह उस पर स्वामित्व स्थापित करना चाहता है और दूसरों को पानी पीने से रोकता है तो यह पाप है। संसार में धन, धान्य आदि सभी वस्तुएँ सार्वजनिक सम्पत्ति हैं। एक चालाक व्यक्ति थोड़ा सा हेर फ़ेर करके उन पर अधिकार जमा लेना चाहता है। यह भी कोई न्याय है ? वृक्षों की छाया सभी के लिए है। जिसको जितनी देर आवश्यकता हो बैठ ले। एक पथिक विश्राम लेकर चला जाता है। दूसरा उसकी जगह आ बैठता है। छाया को गठरी में बाँधकर अपने साथ नहीं ले जाता, न ही उसे ताले में बन्द कर जाता है। वन में घास उगती है। फल लगते हैं। पशु भी आते हैं, पक्षी भी आते हैं। अपना-अपना पेट भरकर चले जाते हैं, उड़ जाते हैं। गट्ठर बाँधकर कोई नहीं ले जाता। अधिकार जमाकर कोई नहीं बैठता।

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो सार्वजनिक उपयोग की वस्तु पर अधिकार जमाना चाहता है। अपनी इस वञ्चकवृत्ति के पोषण तथा गोपन के लिए उसने व्यापार, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि लम्बे चौड़े गोरखधन्धे रच रखे हैं।

चोर दूसरे की निद्रा से लाभ उठा कर उसका धन ले लेता है। डाकू उसकी शारीरिक दुर्बलता से लाभ उठाता है। व्यापारी उसको बौद्धिक तथा आत्मिक दुर्बलता से। प्यासे मरते हुए आदमी से एक गिलास पानी के बदले हम उसकी सारी सम्पत्ति माँग सकते हैं। लाचार होकर उसे देनी ही

पड़ेगी। फिर भी हम न चोर कहे जाएँगे, न डाकू। इसके विपरीत हम यह कहते हुए गर्व का अनुभव करेंगे कि हमने कष्ट के समय उसकी सहायता की और उसके प्राण बचा लिए। दूसरे की निर्बलता या विवशता से लाभ उठाने क भावना सभी में समान रूप से पाई जाती है। फिर भी समाज ने कुछ को पापी कह दिया और कुछ को भाग्यशाली। पूनिया की दृष्टि में सभी एक थे। दूसरे का अधिकार विना छीने या दूसरे की लाचारी से लाभ विना उठाए, कोई सञ्चय नहीं कर सकता।

पूनिया ने सारी सम्पत्ति को त्याग दिया। एक छोटी सी झोंपड़ी बनाली और उसी में रहने लगा। सूत कात कर जो आय होती, उसी पर निर्वाह करता। प्रतिदिन की आय उसी दिन खा लेता, दूसरे दिन के लिए कुछ भी न बचाता। बचाना सञ्चय बुद्धि को उत्पन्न करता है और सञ्चय बुद्धि पाप है। उसका यह भी विश्वास था कि जिस दिन कुछ बचाकर रखा जाएगा उस दिन कोई न कोई अवश्य भूखा रहेगा। बचा हुआ अंश सार्वजनिक स्वत्व का अपहरण है। इसलिए वह उतना ही कातता जिससे उस दिन का गुजारा होता।

जो लोग अपने को बुद्धिमान् मानते हैं वे कह सकते हैं कि यदि वह अधिक कातता और निर्वाह योग्य रख कर शेष का दान कर देता तो दान का पुण्य भी लूट सकता था। किन्तु इसके लिए दान लेने वाले को आलसी बनाना होता। और आलस्य पाप है। प्रत्येक व्यक्ति परिश्रम करे और अपने परिश्रम का खाए। यही उचित है। जिस समाज व्यवस्था में दान देने वाले और लेने वाले विद्यमान हैं, वह स्वस्थ समाज

नहीं है। उसमें वैषम्य का रोग फैला हुआ है। जिस समाज में एक भी व्यक्ति आलसी है, दूसरे को अधिक परिश्रम करना पड़ता है। यह भी अन्याय है।

खैर, पूनिया उदरपूर्ति के लिए पूनियाँ कातता और शेष समय आध्यात्मिक विकास में बिताता। वह इस बात को कभी न भूलता कि मानव-जीवन का वास्तविक ध्येय आत्मा की प्राप्ति है।

एक बार मगध सम्राट् महाराज श्रेणिक भगवान् महावीर की सेवा में बैठे थे। श्रेणिक ने पूछा—"भगवन् ! मैं मर कर कहाँ जाऊँगा ?"

"नरक में"—भगवान ने उत्तर दिया।

श्रेणिक सुनकर चकित रह गया। वह अपने को बड़ा न्यायी, प्रजावत्सल तथा धार्मिक राजा समझता था। पण्डित लोग स्तुति करते समय उसे विष्णु का अवतार कहते थे। यह कहते भी न हिचकते थे कि उसके हाथ से मरने वाले की भी सद्गति होती है। भगवान् महावीर के मुख से अपना भविष्य सुन कर वह खेदपूर्ण आश्चर्य में पड़ गया।

महावीर के वाक्यों पर श्रेणिक को पूरा विश्वास था। वह मानता था कि भगवान् महावीर कभी असत्य नहीं कहते। भगवान् ने बताया—"जो राजा अपने को प्रजा का स्वामी मानता है वह धर्म के रहस्य को नहीं जानता। राज्य की सारी सम्पत्ति को प्रजा की धरोहर समझो। उसे प्रजा के हित में लगाओ। अपने लिए उसमें से एक पैसा भी खर्चना पाप है। राजन् ! यदि तुम अब भी अपने को प्रजा का सेवक मानो तो तुम्हारी आत्मा सुधर सकती है। किन्तु हिंसापूर्ण

क्रूर मनोभावों के कारण तुम नरक का आयुष्य बाँध चुके हो। उसका छूटना कठिन है।"

भगवान् ने राजा को वह घटना याद दिलाई, जब वह शिकार खेलने गया था। उसने एक हरिणी पर बाण छोड़ा। वह गर्भवती थी। तड़फती हुई एक ओर जा पड़ी। बच्चा बाहर गिर पड़ा। राजा अपने निशाने पर फूल उठा।

भगवान ने कहा—"राजन ! तुम ने एक तो निरपराध प्राणी की हिंसा की। उस पर इतने मतवाले हो उठे। इसी कारण तुमने नरक का आयुष्य बाँधा।"

राजा अपना भविष्य सुन कर सहम गया। उसने दीन स्वर में पूछा "भगवन् ! क्या कोई ऐसा उपाय है जिस से मेरा नरक का आयुष्य टूट सके ?"

"बाँधा हुआ आयुष्य नहीं टूट सकता, राजन् ! उसे भोगना ही पड़ता है।" भगवान् ने दयार्द्र होकर कहा। यदि तुम चाहो तो अपना भविष्य सुधार सकते हो, किन्तु किए का फल तो भोगना ही होगा। मैं तुम्हारे सामने तीन बातें रखता हूँ। यदि तुम इनमें से एक भी सम्भव कर सको तो बँधे हुए आयुष्य का टूटना भी सम्भव हो सकता है।

१—यदि तुम्हारी कपिला नाम की दासी शुद्ध मन से किसी साधु को दान देवे तो तुम्हारा नर कायुष्य टूट सकता है।

२—यदि कालसौकरिक कसाई, जो प्रतिदिन पाँच सौ भैंसे मारता है, हिंसा बन्द करदे तो तुम्हारा नरकायुष्य टूट सकता है।

३—यदि पूनिया श्रावक तुम्हें अपनी एक सामायिक दे दे तो तुम्हारा नरकायुष्य टूट सकता है।

कपिला साधुओं से द्वेष करती थी। श्रेणिक ने उसे समझाने का बहुत प्रयत्न किया। प्रलोभन भी दिए, किन्तु वह तैयार न हुई।

काल सौकरिक कसाई से कहा गया। उसने उत्तर दिया—"महाराज! मैं अपने वंश परम्परा के धंधे को कैसे छोड़ दूँ? कुलाचार का पालन करना मेरा धर्म है। नरनाथ! जिस प्रकार आपको अपना धर्म प्यारा है मुझे भी अपना धर्म प्यारा है।"

राजा ने उसे कैद कर दिया। किन्तु वह न माना, उसने अपने पसीने के मैल की बत्तियाँ बनाईं। उन में भैंसों का आरोप किया और संख्या पूरी करली। उसने मानसी हिंसा नहीं छोड़ी। राजा वहाँ भी निराश हुआ।

वह पूनिया के पास पहुँचा। उस समय वह सामायिक में बैठा हुआ था। राजा चुप चाप जाकर बैठ गया। सामायिक पूरी होने पर पूनिया ने राजा को बैठने के लिए चटाई दी और आने का कारण पूछा। राजा ने सारी बात कह सुनाई और एक सामायिक खरीदने की इच्छा प्रकट की।

"महाराज! मुझे खेद है, यह कार्य नहीं हो सकेगा।" पूनिया ने गम्भीरता के साथ उत्तर दिया।

राजा ने सोचा—"बनिया है। कुछ अधिक मूल्य चाहता है।" उसने एक लाख मोहरों से बढ़ते बढ़ते अपना सारा साम्राज्य मूल्य रूप में देना चाहा, किन्तु सौदा न पटा।

श्रेणिक फिर भगवान् महावीर के पास पहुँचा। भगवान् ने सामायिक का स्वरूप बताते हुए कहा—राजन्! तुम भोले हो। तुम समझते हो, अपने राज्य तथा सम्पत्ति द्वारा तुम सब

कुछ कर सकते हो, सब कुछ खरीद सकते हो। किन्तु तुम भ्रम में हो। भौतिक सम्पत्ति द्वारा भौतिक वस्तुएँ ही खरीदी जा सकती हैं। उन्हीं का परस्पर लेन देन और मूल्याङ्कन हो सकता है। आध्यात्मिक जगत् में भौतिक सम्पत्ति का कोई मूल्य नहीं है। आत्मचिन्तन में लगाए गए एक क्षण के सामने तुम्हारा सारा साम्राज्य तुच्छ है। तुम अपनी सम्पत्ति द्वारा कपिला के हृदय को नहीं बदल सके। अपनी सारी शक्ति लगा कर भी कालसौकरिक को नहीं रोक सके। वे तो कुमार्ग में प्रवृत्त थे। फिर भी तुम्हारी सत्ता उन पर प्रभाव न डाल सकी। पूनिया तो एक समझदार श्रावक है। आध्यात्मिक सम्पत्ति का स्वामी है। तुम्हारे तुच्छ साम्राज्य के लिए वह अपनी उस पूँजी को क्यों बेचने लगा ?

राजन्! सामायिक लेने देने की वस्तु नहीं है। आत्मा के विशुद्ध परिणामों का नाम ही सामायिक है। उसके लिए साधना की आवश्यकता है। सामायिक के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए ही पूनिया ने अपनी करोड़ों की सम्पत्ति त्याग दी। उसने ऐसी कोई वस्तु अपने पास नहीं रखी, जो आत्मचिन्तन में बाधक हो। उसे जो आत्म साम्राज्य प्राप्त है, उसके सामने तुम्हारा साम्राज्य क्या है ? यदि तुम वास्तव में सामायिक प्राप्त करना चाहते हो तो राजसत्ता के मिथ्या मोह को छोड़ कर दीन बन जाओ। प्रभुता की इस चकाचौंध में आत्मदर्शन नहीं हो सकते। संसार में क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी को अपना मित्र मानो। सब के साथ समानता का व्यवहार करो। तुम सुख चाहते हो तो दूसरों को सुखी बनाओ। राजन्! सब प्राणियों के साथ समता रखना सामायिक है।

सुख प्राप्त कर फूलो मत और दुख आने पर घबराओ

मत। इष्ट और अनिष्ट, अनुकूल और प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में समान रहने का नाम सामायिक है।

राजन्! आत्म दर्शन का नाम सामायिक है। किन्तु वह तभी हो सकता है, जब अपने मन तथा इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी बनाओगे।

राजन्! साधना करो। अवश्य सफलता प्राप्त होगी।
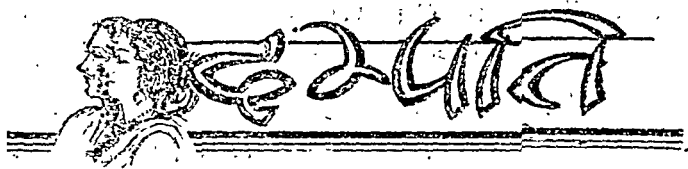
३

"जीवन के महान् लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विवाह पाथेय है। इसका आदर्श सम्भोग नहीं है। विवाह के बाद भी स्त्री और पुरुष पूर्ण ब्रह्मचारी रह सकते हैं।" विजय कुमार ने दृढ़ता से कहा।

कौशाम्बी नगरी में धनसार सेठ रहते थे। उनके एक पुत्र था, नाम था विजयकुमार। विजय शरीर से सुन्दर, बुद्धि से तीक्ष्ण और स्वभाव से नम्र था। नवयौवन, शारीरिक सम्पत्ति और अतुल ऐश्वर्य का स्वामी होने पर भी वह उनमें आसक्त न था। उसका मन जीवन की किसी गम्भीर समस्या के विचार में लगा रहता था।

एक दिन विजय, पिता के साथ मुनिदर्शन करने गया।

व्याख्यान सुना। मुनि महाराज ब्रह्मचर्य की महिमा का उपदेश दे रहे थे। उन्होंने बताया—

"जो व्यक्ति दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, देव, दानव, गन्धर्व और राक्षस, सभी उसे नमस्कार करते हैं।"

विजय उत्साही युवक था। कठिनाइयों का स्वागत करने में उसे आनन्द आता था। इसी का नाम तो यौवन है। इसी का नाम उत्साह है। दूसरे लोग जिसे असम्भव समझ कर अलग हट जाते हैं, युवक का हृदय उसे सम्भव करने के लिए मचल उठता है। लोग जिसे दुष्कर समझकर भय खाते हैं वहीं उसे कोई निमन्त्रण देता हुआ प्रतीत होता है। जहाँ दूसरों के लिए खतरा है, उसके लिए आकर्षण है। दूसरों के लिए जो असाध्य है वह उसी को सुसाध्य करके देखना चाहता है।

साधु जी ने ब्रह्मचर्य को जितना कठिन बताया, विजय का हृदय उतना ही उस ओर झुकता गया। उसमें उसे स्वाद-सा आने लगा।

व्याख्यान के अन्त में वह मुनि महाराज के पास गया और अपनी इच्छा प्रकट की। उसने कहा—"महाराज! मैं चाहता हूँ, पूर्ण-ब्रह्मचर्य का पालन करूँ। किन्तु महाव्रत के शिखर पर पहुँचने के लिए क्रमशः ही चढ़ना उचित है। इस लिए मैं आपके सामने प्रत्येक मास के कृष्णपक्ष में ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा करता हूँ। आप मुझे यह प्रतिज्ञा करा दीजिए।"

मुनि महाराज ने विजयकुमार को ब्रह्मचर्य का स्वरूप अच्छी तरह समझाया। उन्होंने कहा—"स्त्री के साथ शारीरिक सम्बन्ध न करना ही ब्रह्मचर्य नहीं है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है,

आत्मा में रमण करना। मन को विषय वासना से हटाकर आत्मचिन्तन में लगाना। जो व्यक्ति अपने मन को वश में रख सकता है उसके लिए यह कार्य सरल है। जो नहीं रख सकता उसके लिए कठिन है। तुम अभी युवक हो, संसार के सभी प्रलोभन तुम्हारे सामने हैं। पद पद पर पतन की सम्भावना है। फिर भी मुझे आशा है, तुम इस कठोर व्रत में अग्रसर होते जाओगे। विचार और विवेक पूर्वक चलने से कठिन कार्य भी सरल हो जाते हैं। मन में दृढ़ता और उत्साह रखो, अवश्य सफलता मिलेगी।"

उसी नगरी में लीलाधर नाम के दूसरे सेठ रहते थे। उनके एक कन्या थी। सुरूपा; सुन्दरी और गुणवती। नाम था विजया। वह भी एक दिन साध्वियों के व्याख्यान में गई और शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा करली। विजय और विजया दोनों ने अपने व्रत को अपने ही मन में रखा। यह कौन जानता था कि वे एक दूसरे के अधूरे व्रत को पूर्ण कर देंगे।

विजया के पिता को पुत्री के विवाह की चिन्ता हुई। वरकी खोज प्रारम्भ हुई। सभी की दृष्टि विजयकुमार पर आकर जम गई। दोनों का विवाह हो गया।

लोग जिसे सुहाग अर्थात् सौभाग्य की रात कहते हैं, वास्तव में देखा जाय तो वह पतन की रात होती है। एक युवक और एक युवती अपनी उद्दाम वासनाओं को लेकर एक दूसरे के सामने आते हैं और बहाव में बह जाते हैं। संयम का बाँध टूट जाता है। दोनों इस बात को भूल जाते हैं कि उनका जीवन किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए है। शारीरिक सम्पर्क और इन्द्रिय तृप्ति ही उनका ध्येय रह जाता है।

किन्तु विजय और विजया के लिए वह वास्तव में सुहाग रात थी। दोनों ने अपने अधूरे आदर्श को पूर्ण कर लिया था। दोनों के व्रत एक दूसरे के पूरक बन गए थे।

विजया ने कहा—"नाथ! आप दूसरा विवाह कर लीजिए। मेरी चिन्ता मत कीजिए। मैं जिस पथ पर चलना चाहती थी, किन्तु आत्मबल की कमी के कारण साहस नहीं होता था, आपने हाथ पकड़ कर उस पर खड़ी कर दिया। इस से बढ़ कर मेरे लिए सौभाग्य की बात क्या हो सकती है? आपने मेरा पाणिग्रहण किया, मेरे कल्याण का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया और पहले ही दिन परम कल्याण के पथ पर अग्रसर कर दिया। आप सरीखा आत्मोन्नति के पथ पर ले जाने वाला पति किसे मिल सकता है? आप को प्राप्त करके मैं अपने को धन्य मानती हूँ।

किन्तु मैं यह नहीं चाहती कि मेरे कारण आपको कठोर व्रत अंगीकार करना पड़े। आप पर वंश चलाने का उत्तर-दायित्व है। यदि आप दूसरा विवाह न करेंगे तो माता पिता की इच्छा अपूर्ण रह जायगी। उनकी इच्छा को पूर्ण करना आपका कर्तव्य है। मैं आप दोनों की सेवा करूँगी। इस में मुझे आनन्द ही प्राप्त होगा।"

"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।" विजयकुमार ने दृढ़ता के साथ कहा। "जिस पथ पर तुम चलना चाहती हो क्या मेरे लिए वह स्पृहणीय नहीं है? विवाह का उद्देश्य सम्भोग नहीं है। यह तो पशु धर्म है। पाशविक वृत्तियों की तृप्ति है। बिना विवाह के भी पशु इसका सम्पादन करते हैं। इसमें विवाह की क्या महत्ता है? विवाह का उद्देश्य है, स्त्री और पुरुष मिल कर एक दूसरे की कमी को पूर्ण करें। जीवन के महान्

संघर्ष में दोनों परस्पर सहायक हों। स्त्री को देख कर पुरुष में उत्साह जागृत हो और वह जलतीहुई आग में भी कूदने के लिए उतावला हो उठे। पुरुष को देख कर स्त्री में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न हो। स्त्री पुरुष के लिए प्रेरक हो और पुरुष स्त्री के लिए। सम्भोग तो दुर्बलता है। उस महान् लक्ष्य के मार्ग में एक विश्रान्ति है। जो पथिक उसी विश्रान्ति को चरम लक्ष्य मान कर बैठ जाता है, आगे नहीं बढ़ता, उसे पथभ्रष्ट कहना चाहिए। बिना विश्रान्ति किए सतत चलता रहने वाला पथिक पथभ्रष्ट नहीं कहा जा सकता। नया विवाह कर लेने पर वह चरम लक्ष्य मुझ से दूरतर हो जायगा। मैं यह नहीं चाहता। हम दोनों पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए उस लक्ष्य की ओर मिल कर बढ़ेंगे। हमारी प्रतिज्ञाएँ हमारे लिए वरदान सिद्ध होंगी।

वंश चलाने का मोह भी मनुष्य की स्वार्थवृत्ति ही है। सन्तान उत्पन्न करने मात्र से दुनिया का कोई भला नहीं होता। योग्य सन्तान उत्पन्न करके उसे मानवहित में लगा देने पर ही सन्तानोत्पत्ति का ध्येय सिद्ध होता है। अयोग्य सन्तान उत्पन्न होने पर मनुष्य पाप का भागी भी बन जाता है। जो मनुष्य अपने जीवन को परमार्थ के साधन में लगाना चाहता है उसे सन्तान उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात यह है, ब्रह्मचर्य और विवाह का उच्च आदर्श स्थापित करके हम जिस वंश की स्थापना करेंगे वह दुनिया को सदा कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त करता रहेगा"

दोनों ने यह भी निश्चय किया कि "हम अपने व्रत की घोषणा नहीं करेंगे। दोनों दृढ़ता के साथ परीक्षण करेंगे और

जिस दिन यह बात प्रकट हो जाएगी मुनि व्रत अङ्गीकार कर लेंगे।"

जिस दुर्गम पथ पर बड़े-बड़े योद्धा कायर बन जाते हैं। जहाँ ज्ञानियों का ज्ञान, ध्यानियों का ध्यान, तपस्वियों का तप, साधकों की साधना, और व्रतधारियों की निष्ठा, सब कुछ डावाँडोल होने लगता है और जिस पर बड़े-बड़े ऋषि-मुनि फिसल गए, उसी पर दोनों चल पड़े। एक ही लक्ष्य के पथिक होने पर भी वे एक दूसरे के लिए फिसलन थे, गर्त थे, विनाश थे। वे अपने विनाश को सहायक बनाकर चल रहे थे। सड़क छोड़कर कर्दमाक्रान्त चिकनी पगडण्डी को अपनाया था। दोनों ओर भयङ्कर परिखा थी।

दोनों अपने मन की दृढ़ता का परीक्षण कर रहे थे। विजया सदा विजयकुमार के पास रहती थी और विजयकुमार विजया के पास। दोनों एक साथ उठते-बैठते और सोते थे। विजया विजय के लिए पत्नी थी और विजय विजया के लिए पति। किन्तु वे उस अवस्था पर पहुँच चुके थे जब पति और पत्नी का सम्बन्ध वासना को पार करके विशुद्ध प्रेम में परिणत हो जाता है। जहाँ त्याग में आनन्द आता है, भोग लिप्सा में नहीं। जहाँ बलिदान है, प्रतिदान नहीं। समर्पण है, प्रत्याशा नहीं। उत्सर्ग है, कामना नहीं। नवयुवक और नवयुवती होने पर भी वे प्रेम के उस परिपाक पर पहुँच गए थे। दोनों ने वासना को निर्मूल कर दिया था।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी महामुनि विमल विचरते हुए चम्पा नगरी में पधारे। सारे नगर में धूम मच गई। जनता दर्शनार्थ जाने लगी।

उसी नगरी में सेठ जिनदास रहते थे। रात्रि के अन्तिम

पहर में उन्होंने एक सुपना देखा—"चौरासी हज़ार महा-तपस्वी मुनि एक महीने के अनशन का पारणा करने के लिए घर आए। सभी को आहार पानी दिया गया और वे पारणा करके स्वेच्छानुसार विहार कर गए।"

चौरासी हज़ार साधुओं के दर्शन ही बड़े भाग्य की बात है। फिर ऐसे तपस्वियों की लम्बी तपस्या के पारने का सुयोग प्राप्त होना, महान् पुण्यों का फल है। स्वप्न होने पर भी जिनदास ने अपने को भाग्यशाली माना।

उसने भगवान् से स्वप्न का फल पूछा। भगवान् ने बताया—"तुम विजय और विजया के दर्शन करो। उसका उतना ही फल होगा, जितना चौरासी हज़ार महातपस्वियों को पारणा कराने में है।"

विजय और विजया ने बारह वर्ष तक साथ रहकर अपने व्रत का कठोर परीक्षण किया। उसके बाद मुनि व्रत अङ्गीकार करके मोक्ष प्राप्त किया।

सूत के धागे

४

मन्दिर के एक कोने में मुनि समाधि लगाए बैठे थे। दुनिया की बातों से बेखबर। आत्मचिंतन में लीन। इतने में बहुत सी बालिकाएँ खेलती हुई वहाँ आ पहुँचीं। उनकी आँखों में भोलापन था, गति में चञ्चलता, हृदय में उत्सुकता तथा वाणी में लड़खड़ाहट। यौवन अभी प्रस्फुटित नहीं हुआ था किन्तु हलके बादलों में छिपे चन्द्रमा के समान झलक रहा था।

बालिकाओं ने दूल्हा दुलहिन का खेल प्रारम्भ किया। सभी ने मन्दिर के एक एक स्तम्भ को अपना अपना पति चुन लिया। श्रीमती बच गई। उसे कोई स्तम्भ न मिला।

सहेलियों ने मुनि की ओर निर्देश करके कहा—तुम्हारे पति ये रहे। श्रीमती ने मुनि को ही अपना पति मान लिया।

थोड़ी देर खेल कर बालिकाएँ अपने अपने घर चली गईं। मुनि भी दूसरे दिन विहार कर गए।

श्रीमती सयानी हुई। उसके पिता वसन्तपुर के बड़े सेठ थे। विवाह की बातें प्रारम्भ हुईं। भला कन्या, बिना विवाह के कैसे रह सकती है! हमारी सामाजिक व्यवस्था जो ऐसी है। कन्या को किसी न किसी की सम्पत्ति बनना ही पड़ता है। श्रीमती के लिए भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ। माता तथा पिता प्रतिदिन वरों की चर्चा करने लगे।

किन्तु श्रीमती को वह चर्चा अच्छी न लगती थी। वह एक व्यक्ति को अपना आराध्यदेव मान चुकी थी। उसे पति के रूप में स्वीकार कर चुकी थी। यह कार्य खेल में हुआ या गम्भीरता के साथ, इस बात को वह महत्व नहीं देना चाहती। वह तो एक ही बात जानती है कि उसने अपने हृदय में एक बार किसी को पति मान लिया है। आखिर, पति और पत्नी का सम्बन्ध एक कल्पना ही तो है। संसार के सभी नाते कल्पना मात्र हैं। मानो तो सब कुछ हैं, न मानो तो कुछ भी नहीं। श्रीमती मान चुकी थी। अब उससे टलना न चाहती थी।

उसने अपने विचार माता के सामने रखे। माता ने कहा— "बेटी! यह तेरा भोलापन है। अज्ञानता है। भला खेल की बातें भी कहीं सच्ची होती हैं? खेल में तो लड़कियाँ प्रतिदिन नया पति चुनती हैं, क्या वही उनका वास्तविक पति हो जाता है?"

"जिसे समाज विवाह कहता है, वह खेल ही तो है।" श्रीमती ने उत्तर दिया। "अन्तर केवल इतना ही है कि हमने वे विधिविधान नहीं किए जो समाज में प्रचलित हैं। वहाँ न

अग्नि की साक्षी थी और न कन्यादान और न उसका ग्रह
हुआ था। किन्तु ये तो बाह्य वस्तुएँ हैं। विवाह का वास्तवि
सम्बन्ध तो हृदय से है। जिसे हृदय एक बार चुन लेता
वही पति है। पुरोहित द्वारा मन्त्र पढ़े जायँ या न पढ़े जायँ
इससे उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। केवल मन्त्रों को
विवाह का आधार मानना मिथ्या है।"

मनुष्य ज्यों ज्यों बड़ा होता है और सभ्यता, संस्कृति तथा समाज का आविष्कार करता है, उसका जीवन कृत्रिम बनता जाता है। उस समय व्यक्ति और समष्टि, घर और बाहर, खेल और यथार्थ, स्वार्थ और परमार्थ आदि के रूप में उसके सामने प्रत्येक बात के दो पहलू खड़े हो जाते हैं। बालक की दुनियाँ में यह द्वन्द्व नहीं होता। उसके सामने कल्पना और यथार्थ तथा खेल और वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं होता। उसके सामने सब कुछ यथार्थ है। उसके लिए कहानी जगत् की आकाश में उड़ने वाली परियाँ तथा भूत प्रेत उतने ही यथार्थ हैं जितने माता पिता तथा दूसरे साथी। श्रीमती की दुनियाँ में उस खेल और इस खेल में कोई अन्तर न था।

माता ने बहुत कहा। पिता ने बहुतेरा समझाया। सखी सहेलियाँ हार गईं। किन्तु वह न टली।

अन्त में उस मुनि की खोज प्रारम्भ हुई। न नाम, न ठिकाना। भला मुनि कहाँ मिलते? श्रीमती एक ही बात जानती थी कि उनके दक्षिण पैर पर तिल है। किन्तु इतने मात्र से क्या पता लगता है? यह भी तो विचारणीय था कि घरबार छोड़ कर संन्यासी बनने वाला वह महापुरुष विवाह के लिए कैसे तय्यार होगा? भला वह इस बन्धन में क्यों फंसने लगा?

सब निराश होकर बैठ गए। सोचा था, कुछ दिनों में कुमारी के विचार पलट जायँगे। किन्तु वह न बदली।

इसी प्रकार कई वर्ष बीत गए। मुनि घूमते फिरते फिर एक बार बसन्तपुर में आ पहुँचे। और लोगों के साथ श्रीमती भी दर्शनार्थ गई। उसने पैर देखते ही मुनि को पहिचान लिया। श्रीमती को अपने इष्टदेव मिल गए।

आर्द्रक मुनि एक राजकुमार थे। सम्पत्तियाँ तथा भोग-विलास उनके चरणों पर लोटते थे। उन सबको तुच्छ समझ कर उन्होंने भिक्षुव्रत अङ्गीकार किया था। फिर भला वे उस ओर कैसे आकृष्ट होते? सभी प्रलोभन बेकार गए। सभी दबाव व्यर्थ सिद्ध हुए।

किन्तु श्रीमती हताश न हुई। उसने सोचा—"त्यागी को त्याग द्वारा जीता जा सकता है, भोग द्वारा नहीं। यदि मैं वास्तव में उनकी पत्नी बनना चाहती हूँ तो मुझे उनके योग्य बनना चाहिये।" यह सोचकर उसने कठोर तपस्या प्रारम्भ कर दी।

अन्त में आर्द्रक कुमार का हृदय भी पिघल गया। श्रीमती की साधना के सामने उन्हें झुकना पड़ा। जिसे अपने सुख-दुख की तनिक भी परवाह न थी, जो प्रफुल्ल हृदय से मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तत्पर था, वह भक्ति के सामने झुक गया। उसने बन्धन में फँसना स्वीकार कर लिया। जो व्रत उन्हें जीवन से भी प्यारा था, जिसके सामने समस्त संसार को तुच्छ समझ रखा था, भक्त की भावना से प्रेरित होकर उसे भी त्यागना स्वीकार कर लिया। वे श्रीमती की प्रार्थना को नहीं ठुकरा सके।

मुनिवेश छोड़कर वे गृहस्थ बन गए। विवाह किया, सन्तान हुई। पूर्वनिश्चयानुसार उन्होंने दुबारा दीक्षा लेने का विचार प्रकट किया। श्रीमती ने कहा—"अभी बालक छोटा है। जब चलने फिरने लग जाय तब जैसी आप की इच्छा हो कर लीजियेगा।"

समय बीतते देर नहीं लगती। बालक चलने फिरने लगा। आर्द्रक कुमार ने फिर अपना विचार प्रकट किया। श्रीमती चुप रही।

दूसरे दिन अचानक वह चरखा लेकर कातने लगी। खेलता हुआ बालक आ पहुँचा। पूछा—"माँ! यह क्या कर रही हो?"

"बेटा! तुम्हारे पिताजी घर छोड़कर जाने वाले हैं। उसके बाद घर में कमाने वाला कोई न रहेगा। अब चरखा कात कर अपना और तुम्हारा पेट भरूँगी।" माता ने दुखी होते हुए उत्तर दिया।

"मैं पिताजी को बाँध दूँगा। फिर, वे कैसे जाएँगे?" बालक ने बालसुलभ भोलेपन के साथ कहा।

उसने उसी समय कते हुए सूत के दो गोले उठा लिये। आर्द्रकुमार लेटे हुए थे। उसने जाकर चारों ओर सूत लपेट दिया।

पिता ने लेटे ही लेटे हँसते हुए पूछा—

"तुम ने मुझे क्यों बाँधा है?"

"तुम भागना जो चाहते हो, मैं तुम्हें नहीं भागने दूँगा। देखूँ, अब कैसे जाते हो?" बालक के स्वर में दृढ़ता थी।

पिता प्रेम के उन धागों को नहीं तोड़ सके। वे अपनी हार मान गए। लेटे ही लेटे बोले—"अच्छा, नहीं जाऊँगा। अब तो खोल दो।"

"नहीं! तुम चले जाओगे।"

"नहीं जाऊँगा। विश्वास रखो।"

बालक ने धागे खोल दिए। आर्द्रक कुमार ने अपने निश्चय को फिर स्थगित कर दिया। बालक जब तक युवा नहीं हो गया तब तक घर बार छोड़ने का विचार उनके मन में फिर नहीं आया।

५
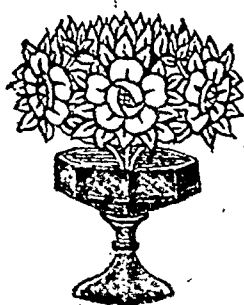
"ऊदा जी ! यदि आप दीक्षा ले लेवें तो आत्म-कल्याण के साथ समाज का बहुत भला कर सकते हैं।" एक साधु वेशधारी वृद्ध ने कहा।

वृद्ध महानुभाव मारवाड़ के सोजत नगर में रहते थे। वेश तो साधु का था किन्तु क्रियाकाण्ड में वह उग्रता न थी, जिसकी आशा समाज करता है। लोग उन्हें साधु मान कर वन्दना तो न करते थे किन्तु धार्मिक क्रियाओं के लिए उनके पास आया जाया करते थे। नाम था, भोपजी स्वामी।

उन दिनों सभा सोसाइटियाँ या क्लब नहीं थे। सभी के अभाव की पूर्ति धर्म स्थान किया करते थे। अवकाश के समय नागरिक अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार किसी धर्म स्थान में

एकत्रित हो जाते और विविध चर्चाएँ किया करते। अच्छी भी और बुरी भी। नगर की सुन्दरियों की बातें भी होतीं और परलोक की भी। जिसकी जैसी रुचि होती वह वहीं जा बैठता। भोपजी का उपाश्रय एक ऐसा ही क्लब बना हुआ था।

धार्मिक चर्चा करने वाली मण्डली में उदयसागरजी नाम के एक नवयुवक आया करते थे। प्रतिभाशाली तथा तेजस्वी होने के साथ धार्मिक बातों का अच्छा ज्ञान रखते थे। अपनी बात को कहने और विषय को प्रतिपादन करने का ढंग रोचक था। भोपजी स्वामी तथा दूसरे धार्मिक प्रवृत्ति वाले लोगों को उनकी बातों में रस आता था। एक दिन स्वामी जी के मुख से सहसा उपरोक्त बात निकल पड़ी। उस समय कौन जानता था कि वह सिद्ध योगी की भविष्य-वाणी के समान सत्य सिद्ध होगी।

उदयसागर जी ने उस बात को चेतावनी समझा। जिस मार्ग को वे चिरकाल से ढूँढ रहे थे, भोपजी स्वामी ने उसी की ओर संकेत कर दिया। वे मन ही मन उस वाक्य को दोहराने लगे और वैराग्य भावना को दृढ़ करने लगे। अन्त में उन्होंने पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली।

प्रतिभा छिपी नहीं रहती। उदयसागरजी समाज में चमकने लगे। ज्ञान, रुचि और चरित्र सभी बातों में उनका उच्च स्थान था। गुणों से प्रभावित होकर तत्कालीन आचार्य पूज्य श्री शिवलालजी महाराज ने उन्हें अपना युवराज चुन लिया।

थोड़े दिनों बाद पूज्य श्री शिवलालजी महाराज का स्वर्गवास हो गया। उदयसागरजी विशाल सम्प्रदाय के आचार्य

बन गए। उनके अनुशासन, व्यवस्थाशक्ति, कठोरसंयम तथा दूसरे गुणों के कारण सम्प्रदाय दिन प्रति दिन उन्नति करने लगा। उग्र क्रियाकाण्ड तथा दृढ़ता के लिए दूसरे सम्प्रदाय उसकी धाक मानने लगे।

विहार करते हुए पूज्य श्री उदयसागरजी सोजत आए। हजारों श्रावक तथा श्राविकाएँ दर्शन के लिए टूट पड़े। चारों ओर जयनाद हो रहा था। ऐसे समय व्यक्ति को अपनी पद मर्यादा का विशेष ध्यान रहता है। पूर्वावस्था के साथियों तथा शुभाकांक्षियों को वह भूल जाया करता है। किन्तु पूज्य श्री ने आते ही भोपजी स्वामी के विषय में पूछा और उनके पास जाने की इच्छा प्रकट की।

बात सुनकर समाज के मुख्य श्रावक तथा साधु चकित रह गए। उनकी सम्प्रदाय का आचार्य एक साधारण शिथिलाचारी के पास जाय, यह उन्हें अपना अपमान-सा प्रतीत होने लगा।

पुत्रमोह से अन्धी होकर माता बालक के स्वतन्त्र विकास में बाधक बन जाती है। उसे बालक की रुचि या उन्नति का ध्यान नहीं रहता। जो वस्तु उसे स्वयं अच्छी लगती है वही बालक को खिलाती है। जो कपड़े देखने में उसे अच्छे लगते हैं, वही बालक को पहिनाती है। जिस तरह उठना-बैठना उसे पसन्द है, बालक को वैसे ही करना पड़ता है। उसे इस बात का ध्यान नहीं रहता कि बालक भी मनुष्य है, समझता बूझता है, उसकी अपनी रुचि है, सुख-दुख की अनुभूति है।

अन्ध भक्त भी अपने उपास्य से ऐसी ही आशा करने लगता है। वह अपने धर्मगुरु को अपनी इच्छानुसार चलाना चाहता है। सच्चा भक्त उपास्य के इंगितों पर स्वयं नाचता है

और अन्धभक्त स्वयं अड़ा रहकर उपास्य को अपनी इच्छानुसार चलते हुए देखना चाहता है। जिस बात से उसके अहङ्कार को आघात पहुँचे उसे करने से वह अपने धर्माचार्य को भी रोकता है। उसकी दशा उस अन्धे सरीखी होती है जो दूसरे के हाथ में लाठी देकर भी स्वयं दिशाप्रदर्शन करता है। जो ठीक मार्ग पर ले जाते हुए अग्रणी को इसलिए कोसता है क्योंकि वह स्वयं आगे नहीं बढ़ना चाहता। और नेता पर उन्मार्गगामी होने का आरोप लगाता है। अन्धभक्त यह बात भूल जाता है कि उसका पथप्रदर्शक अपनी आँखों से देखकर चलेगा। वह अनुयायी की इच्छाओं का अनुसरण नहीं कर सकता। वह तो सत्य का पथिक है और सत्य का प्रदर्शक है। मानव-स्वभाव की यह एक दुर्बलता है कि वह अपनी अहंभावना और जमे हुए संस्कारों को छोड़ते हुए कष्ट का अनुभव करता है। वह सत्य को अपने अन्धविश्वासों में सीमित कर लेना चाहता है। यहीं से धार्मिक झगड़े प्रारम्भ होते हैं और मत मतान्तरों से दुनिया भर जाती है।

एक मुनि ने पूज्य श्री से कहा—महाराज! आप उग्र-विहारी सम्प्रदाय के आचार्य हैं। शिथिलाचारी के पास जाना आपको नहीं कल्पता।

एक श्रावक ने कहा—पूज्यराज! उस शिथिलाचारी के पास जाने से सम्प्रदाय का अपमान होगा।

तीसरे ने कहा—इसमें मिथ्यात्व लगता है।

चौथे ने कहा—वहाँ जाने से मुनिव्रत में दोष लगेगा।

इस प्रकार चारों ओर से विरोध होने लगा। लब्ध-प्रतिष्ठ नेता के लिए ऐसा समय बड़े सङ्कट का होता है। एक

ओर मान-मर्यादा और दूसरी ओर सत्य। दोनों का संघर्ष प्रारम्भ होता है। निर्बल हृदय नेता सत्य को छोड़ देते हैं। जनमत को ठुकराना उनकी शक्ति से बाहर हो जाता है। वे लोक-समाराधन की ओर झुक जाते हैं।

व्यक्ति शुद्ध हृदय से समाज सेवा में प्रवृत्त होता है। त्याग और बलिदान से प्रभावित होकर जनता उसे अपने सिर पर उठा लेती है और सत्यासत्य का निर्णय किए बिना ही उसके पीछे हो लेती है। थोड़ी दूर चलने पर नेता को अपनी भूल मालूम पड़ती है किन्तु सुधारने का बस नहीं रहता। उसे यह भय होता है कि पूर्व प्रतिपादित बात को असत्य कहने पर कहीं पूजा प्रतिष्ठा में धक्का न लगे, जो घर-बार छोड़ देने पर उसकी एकमात्र सम्पत्ति है। उसी की रक्षा के लिए वह समझ बूझ कर असत्य पथ को पकड़े रहता है। इस प्रकार समाज नेता को बाँध लेता है और नेता समाज को। दोनों का विकास रुक जाता है और प्रवृत्ति प्रतिगामी बन जाती है। समय की प्रगति की ओर आँखें बन्द करके अपना अस्तित्व रखने के लिए संघर्ष करने वाले हजारों मत और सम्प्रदाय इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। संसार का हित-साधन उनका लक्ष्य नहीं रहता। लक्ष्य रहता है केवल अपने अस्तित्व का रक्षण। अपने अहङ्कार और दम्भ का पोषण तथा धर्म के आवरण में स्वार्थ-साधन।

दुर्बल नेता अनुयायियों का रुख देखने लगता है। जो बात उन्हें पसन्द नहीं होती, वह न उसे कर सकता है, न कह सकता है। किन्तु पूज्य उदयसागरजी में एक विलक्षणता थी। वे उचित बात के लिए समाज से कभी न डरते थे। वे मानते थे, समाज का नेतृत्व समाज की इच्छा पर चलने से

नहीं होता। सच्चे नेता का कर्तव्य है—विरोध, अपमान और कष्ट सहता हुआ भी सत्य को न छोड़े। वह तो अनुयायियों के सामने नए-नए आदर्श स्थापित करता है, स्वयं उनका अनुयायी नहीं बनता।

जिस व्यक्ति ने हमारे लिए एक बार भी सच्चे हृदय से शुभाकांक्षा प्रकट की, जिसने जीवन को उज्ज्वल बनाने के लिए दिशासूचन किया वह हमारा उपकारी है। उसके उपकार के लिए हमें कृतज्ञ होना ही चाहिए। उसे घृणा की दृष्टि से देखना कृतघ्नता है। इन्हीं बातों को सोचकर पूज्यश्री ने कहा—"सम्प्रदाय की मर्यादा मिथ्याभिमान के पोषण में नहीं है। नम्र बनने से कोई छोटा नहीं होता। हम जितने नम्र बनेंगे उतना ही हमारा और समाज का सन्मान बढ़ेगा। नम्रता मनुष्य को ऊँचा उठाती है। गुण और दोष प्रत्येक व्यक्ति में पाये जाते हैं। हमें गुणों के प्रति ही ध्यान देना चाहिए, दोषों के प्रति नहीं। गुण चाहे किसी में हों उनका आदर करना चाहिए। जो गुणों का आदर नहीं करता वह उन्हें नहीं प्राप्त कर सकता।

किसका हृदय कैसा है, यह हम नहीं जानते। हो सकता है, हम जिसे उत्कृष्ट साधु मानते हैं उसका हृदय कलुषित हो और वह नैतिक दृष्टि से बहुत गिरा हुआ हो। जो बाह्याचार में शिथिल मालूम पड़ता है उसका भी हृदय पवित्र एवं उदात्त हो सकता है। भगवान् महावीर के समय ऐसे साधु वेशधारियों की पूजा होती रही है जो अभवी थे। क्या उनकी पूजा करने वाले साधु और श्रावक अपने व्रत से गिर गए?

किसी क पूजने या वन्दना करने मात्र से कोई मिथ्यात्वी

नहीं बनता। मिथ्यात्व तभी लगता है जब दोषों को गुण मान लिया जाय। व्यक्ति तो केवल उनका आश्रय है जिसे हम अपनी इच्छानुसार मान लेते हैं। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का आधार गुण और दोष हैं। व्यक्ति नहीं। व्यक्ति तो बदलता रहता है। आज का पापी कल साधु बन सकता है। साधु गिर कर पापी हो सकता है। क्या वेश बदलने और पट्टी पढ़ लेने मात्र से कोई साधु बन जाता है? क्या इतने मात्र से वन्दना-योग्य हो जाता है! वन्दना उन गुणों की की जाती है, जिनकी आशा हम उस व्यक्ति में करते हैं।

हम एक धनवान् का इसलिए आदर करते हैं कि उसके पास धन है, यह मिथ्यात्व है। राजा का इसलिए आदर करते हैं कि उसके पास हिंसात्मक शक्ति है, यह मिथ्यात्व है। वासनात्मक प्रेम मिथ्यात्व है, मोह मिथ्यात्व है। इस प्रकार बहुत सी बातें हैं जिन्हें धर्म मानना मिथ्यात्व है।

यदि एक चोर हमारी सहायता करता है तो उसका भी उपकार मानना ही चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम चोरी को प्रोत्साहन देते हैं। हम तो उसका ध्यान उस गुण की ओर खींचते हैं जिसके कारण दूसरे अवगुण होने पर भी वह श्रद्धा-भाजन बन गया। चोर को सुधारने का यह सबसे उत्तम उपाय है कि हम उसका ध्यान उन गुणों की ओर आकृष्ट करें जिनसे वह विश्वासपात्र एवं सम्मानित नागरिक बन सकता है।"

इस प्रकार श्रावकों को समझाकर पूज्य श्री भीखणजी स्वामी के पास पहुँचे। पीछे-पीछे साधु तथा श्रावकों का विशाल समुदाय था।

भीख जी उपाश्रय में अकेले बैठे हुए थे। आचार्य को

अपने सम्मुख देख कर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। पूज्य श्री ने स्वामीजी के प्रति आदर प्रकट किया और पूर्वोक्त वाक्य के लिए उनका उपकार माना।

स्वामीजी गद्‌गद हो उठे। उनके हृदय में पूज्य श्री की नम्रता, कृतज्ञता और सहजबन्धुता के प्रति भक्ति जाग उठी। इतनी बड़ी सम्प्रदाय का तेजस्वी आचार्य अनायास कही हुई बात के लिए कृतज्ञता प्रकट कर रहा है। दूसरे के राई सरीखे गुण को भी उसने पहाड़ बना दिया। आचार्य की गुणग्राहिता के प्रति स्वामीजी का मस्तक झुक गया, साथ ही अपनी शिथिलता पर आत्मग्लानि होने लगी।

उसी दिन से स्वामी जी का जीवन बदल गया। ढोंग तथा दिखावे से घृणा हो गई। वे अपनी शक्ति के अनुसार शुद्ध हृदय से धर्म का पालन करने लगे। जितना करते उससे कम कहते। दिखावा बिल्कुल न रहा। दिन रात आत्म-चिन्तन में रहने लगे। अनेक शास्त्रों के अध्ययन तथा हजारों उपदेशों से जिस पर कोई असर न हुआ, उसे महापुरुष के क्षण भर के समागम ने बदल दिया।

६

अरणक माता पिता की इकलौती सन्तान था। उमर ढलने पर पैदा हुआ था। इस लिये अत्यन्त लाड तथा स्नेह में पला था। दोनों उसे देखकर जीते थे। पिता माण्डलिक राजा थे। अतुल ऐश्वर्य था। प्रभुत्व था। सुख सम्पत्ति थी।

राजा ने एक दिन भगवान् महावीर का उपदेश सुना। अपनी उमर ढलती देखी। दीक्षा लेने का विचार कर लिया। साथ में रानी भी तैयार हो गई। उन्होंने अरणक से राज्य सम्हालने के लिए कहा, किन्तु वह न माना। उसे विश्वास था, माता-पिता जिस पथ पर जा रहे हैं, वह अप्रिय या अहितकर नहीं हो सकता। अरणक भी साथ ही दीक्षित हो गया।

पिता अरणक को बड़े स्नेह से रखते थे। उसे भिक्षा के लिए न भेजते। अच्छा भोजन देते। अच्छे वस्त्र पहिनाते। साधु के लिए आवश्यक दैनिक कार्यों को भी यथासम्भव वे ही पूरा कर डालते। साधु होने पर भी वे मोहपाश को न तोड़ सके।

कुछ समय बीतने पर पिता का देहान्त हो गया। अरणक अकेले रह गए। गच्छ के आचार्य का भी अरणक पर काफी स्नेह था किन्तु वे यह न चाहते थे कि वह कर्तव्य पालन से विमुख रहे। उनकी इच्छा थी—"अरणक साधु समाचारी सीखे। शास्त्रों को पढ़े। धर्म का तत्व समझे और एक दिन गच्छ का नायक बन जाय।"

जेठ का महीना था। कड़ी धूप पड़ रही थी। सूर्य उग्ररूप से तप रहा था। चारों ओर आग बरस रही थी। अरणक मुनि नंगे पैर और नंगे सिर भिक्षा के लिए निकले। कुछ ही दूर चले थे कि पैरों में छाले पड़ गये। ऊपर से सिर झुलसने लगा। मन ही मन पछताने लगे—"मुनिव्रत मेरे बस का नहीं है। मैंने अपने आप यह मुसीबत मोल ली। किसी प्रकार छूट जाऊँ तो ठीक है।"

सामने एक वृक्ष था। वे छाया में खड़े हो गए। शरीर सुन्दर था। किन्तु मुख पर उदासी छाई हुई थी।

दक्षिण की ओर एक सुन्दर प्रासाद था। बहुत ऊँचा तथा विशाल। मालूम पड़ता था उसका स्वामी सम्पन्न व्यक्ति रहा होगा। खिड़की खुली थी। उसमें एक युवती बैठी थी। उसने अरणक की ओर देखा। सहानुभूति से हृदय भर आया—कहाँ यह कोमल शरीर और कहाँ कठोर व्रत? सच-मुच, साधुओं के हृदय नहीं होता। कहीं रुई के थम्भों पर

प्रासाद खड़ा किया जा सकता है? उसे उठाने के लिए पाषाण चाहिये। उसने दासी भेजकर मुनि को निमन्त्रित किया।

अरणक आए। सहानुभूति धीरे-धीरे स्नेह में परिणत होने लगी। युवती उनकी ओर आकृष्ट होती गई। उसने पौष्टिक तथा रसयुक्त भोजन से पात्र भर दिया। कुछ देर विश्राम करने की प्रार्थना की। वहीं बैठकर भोजन करने का आग्रह किया। स्वयं पंखा झलने लगी। अरणक उसकी प्रार्थना को आज्ञा के समान मानते गए।

वे उसी युवती के साथ रहने लगे। भोग-विलास तथा आनन्द में दिन कटने लगे। अनुकूल रहन-सहन और भोजन के कारण अरणक का शरीर कई गुना चमक उठा।

माँ को मालूम पड़ा—अरणक भिक्षा के लिए गए थे, फिर वापस नहीं लौटे। साध्वी होने पर भी मोह जाग उठा। वह अरणक को ढूंढने लगी। गलियों में घूमती। सड़कों पर घूमती। दिन भर अरणक-अरणक पुकारती रहती। लोग उसे 'पगली' कहते। बालकों का झुण्ड पीछे लग जाता। कोई कहता, अरणक उधर है तो वह उसी ओर दौड़ पड़ती। लोग अपनी तरफ से मजाक करते थे किन्तु वह सत्य ही समझती थी। वह मजाक को भूल गई थी।

एक दिन इसी प्रकार चिल्लाती हुई वह उस प्रासाद के नीचे से निकली। अरणक अपनी प्रेयसी के साथ खिड़की में बैठा था। माँ के शब्द कानों में पड़े। पुरानी स्मृतियाँ जाग उठीं। दौड़ा-दौड़ा नीचे आया। सामने आकर बोला—"माँ! मैं यह रहा। जिसको तुम ढूँढ रही हो मैं वही अरणक हूँ।"

माँ ने आँखें फाड़कर देखा। सामने सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण पहिने एक युवक खड़ा था।

माँ ने कहा—"मेरा अरणक तो साधु था। तू मेरा अरणक नहीं है।" वह अरणक-अरणक कहती हुई आगे चल दी।

अरणक फिर प्रासाद में न जा सका। वह उसी समय वन की ओर चल दिया। धूप से जलती हुई शिला पर समाधि लगा कर बैठ गया। उसका शरीर झुलस रहा था।

माँ भी उधर आ पहुँची। अरणक का शरीर जल रहा था किन्तु वह निश्चय समाधि में लीन था। वह बोली—"यह रहा मेरा अरणक!"

७

मगध देश में सुग्राम नाम का गाँव था। वहाँ भवदत्त और भवदेव नाम के दो भाई रहते थे। भवदत्त बड़ा था और भवदेव छोटा। बड़े भाई ने आचार्य सुस्थित के पास मुनिव्रत ले लिया। उस समय उसकी आयु बीस वर्ष के लगभग होगी। यौवन प्रस्फुटित हो रहा था। हृदय में उत्साह था, उमंगें थीं, मनसूबे थे और यौवन की अभिलाषाएँ भी थीं। किन्तु भवदत्त ने उनके प्रवाह को बदल दिया। उन्हें सांसारिक भोगों से हटाकर त्याग की ओर लगा दिया। वह भोगी के स्थान पर योगी बन गया। विलासिता का स्थान कठोर संयम ने ले लिया।

आचार्य सुस्थित विचरते हुए एक बार देवपुर पहुँचे।

देवल वहाँ से दो कोस था। धर्मप्रिय अनगार के कुटुम्बी इसी जगह रहते थे। उनका छोटा भाई पवनकुमार भी वहीं रहता था। भाई से स्वाभाविक स्नेह था। आचार्य की अनुमति लेकर वे एक बहुश्रुत साधु के साथ देवल पहुँचे।

पवनकुमार के विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं। सारे कुटुम्बी उसमें लगे हुए थे। चारों तरफ दौड़ धूप मची थी। एक ओर मिठाइयाँ बन रही थीं, दूसरी ओर मण्डप तैयार हो रहा था। खुशियाँ मनाई जा रही थीं। हर्ष के फव्वारे छूट रहे थे। पवन अपने विवाहित जीवन की मधुर कल्पना से मन-ही-मन खुश हो रहा था। शैलबाला आएगी। वह कैसी सुन्दर है? उसका स्वागत कैसे करना होगा? पहले-पहल उसके सामने कैसे वस्त्र पहिन कर जाना चाहिए? प्रथम मिलन के समय वार्तालाप कैसे आरम्भ किया जायगा? कहीं कोई भूल न हो जाय और वह मुझे मूर्ख समझने लगे? पवन के मस्तिष्क को इन्हीं विचारों ने घेर रखा था।

बड़े भाई के आने का समाचार पहुँचा तो वह दुविधा में पड़ गया। "भला यह भी कोई उनके आने का समय है। मैं विवाह की खुशियाँ मना रहा हूँ और वे त्याग का उपदेश देने आये हैं। क्या वे किसी और समय नहीं आ सकते थे? क्या वे मेरे रंग में भंग डालना चाहते हैं? स्वयं दीक्षा ले ली तो उनकी मर्जी। उन्होंने अपनी इच्छा से ऐसा किया है। मुझे जबर्दस्ती क्यों घसीटना चाहते हैं? मुझे सुख क्यों नहीं भोगने देते? फिर भी बड़े भाई हैं। अपमान करना तो उचित नहीं है।" फिर विवाह की स्मृतियाँ आईं। "यदि उन्होंने त्याग का उपदेश प्रारम्भ कर दिया तो! मैं इस समय उनका उपदेश नहीं सुनना चाहता। अपने इस माधुर्य में कटुता नहीं

मिलाना चाहता। मैं अभी स्वस्थ हूँ। मीठा शरबत पी रहा हूँ। जी भरकर पीऊँगा। वे नीम खाने को कहेंगे चिरायता पीने को कहेंगे। मैं क्यों खाऊँ और क्यों पीऊँ ?"

पवन काफी देर तक उधेड़ बुन में पड़ा रहा। एक झोंका इधर से आता था तो दूसरा उधर से। अन्त में यही निश्चय किया कि इस समय नहीं मिलना ही ठीक रहेगा। उसने मिलने से इन्कार कर दिया।

धर्मप्रिय को दीक्षा लिए बारह वर्ष हो गए थे। उस समय पवन दस वर्ष का था। चञ्चल था। मीठा बोलता था। बहुत सुन्दर था। उसे देखकर धर्मप्रिय की आँखों में आँसू छलछला आए थे। वह भी 'भाई-भाई' कहकर रो पड़ा था। उसका वह रुदन एवं आँसुओं से भरा मुख धर्मप्रिय को अभी तक याद था। माता-पिता-तथा दूसरे सभी बन्धुओं से नाता तोड़ देने पर भी छोटे भाई का मोह हृदय के एक कोने में छिपा था। देवपुर आते ही पुरानी स्मृतियाँ नवीन हो गईं। भाई का मोह जागृत हो उठा। वे अपने को न रोक सके और मिलने चल पड़े।

परन्तु पवनकुमार से नहीं मिलने का उत्तर पाकर वे स्तब्ध रह गए। क्या संसार इतना कठोर हो सकता है ? क्या वही भाई इस प्रकार उत्तर दे सकता है ? उन्हें अपने कानों पर विश्वास न हुआ। किन्तु बात ठीक थी। उनके न चाहने से वह अन्यथा नहीं हो सकती थी। मुनि उन्हीं पैरों वापिस लौट गए। मोह की गाँठ आघात पाकर खुल गई।

धर्मप्रिय अणगार ने आकर सारी बात आचार्य को सुनाई और आचार्य ने संसार के स्वभाव का वर्णन करते हुए शिष्यों को।

वहीं भवदत्त बैठे थे। उन्होंने मन में सोचा—"क्या सभी भाई ऐसे होते हैं? मेरा भाई तो ऐसा नहीं है। क्या मैं भी परीक्षा करूँ?"

कुछ दिनों बाद आचार्य सुस्थित विचरते हुए धर्मग्राम पहुँचे। यह स्थान सुग्राम से तीन कोस था। भवदत्त गुरु से पूछ कर भाई से मिलने चले।

भवदेव का विवाह महोत्सव सम्पन्न हुए अभी एक सप्ताह से अधिक न हुआ था। दूर के सम्बन्धी चले गए थे। निकट के वहीं थे। नित्य प्रति उत्सव मनाए जा रहे थे। मित्र-मण्डली भवदेव को घेरे रहती। कभी जलविहार का कार्यक्रम बनता तो कभी वनविहार का। हँसी खुशी तथा आमोद-प्रमोद में न आए दिन का पता लगता, न गए का।

विवाह के पश्चात् होने वाली रस्में अभी पूरी न हुई थीं। गाँव की युवतियों ने, विशेषतया जो भवदेव को अपना देवर मानती थीं और जो किसी प्रकार भाभी कहला सकती थीं, उसे तमाशा बना रखा था। उसके साथ वधू को बाँधकर वे कभी कहीं ले जातीं, कभी कहीं। दूसरा समय होता तो वह किसी की न मानता। सबको बुरी तरह छकाता। किन्तु अब पालतू बन्दर के समान उनकी आज्ञा का पालन कर रहा था। वे कहतीं—उठ! तो उठ जाता। वे कहतीं—बैठ, तो बैठ जाता। स्त्री जाति को अपनी इस कुशलता पर गर्व हो रहा था कि उसने पुरुष नाम के उच्छृङ्खल प्राणी को किस प्रकार वश में कर लिया है? भवदेव उनकी सब आज्ञाओं को वरदान मान रहा था।

जिस समय भवदत्त मुनि सुग्राम पहुँचे, भवदेव, पत्नी को आभूषण पहिनाने की रस्म पूरी कर रहा था। चारों तरफ

युवतियों ने घेर रखा था। मधुर परिहास हो रहे थे। साथ में कटाक्ष भी। भवदेव पत्नी को आभूषण पहिना रहा था। उत्सुकता के कारण कभी-कभी आँख उठाकर देखता किन्तु फिर नीची कर लेता।

वधू नागिला परम सुन्दरी थी। उसके नील धवल विशाल लोचन स्नेह की वृष्टि कर रहे थे। स्मित ओठों से बाहर निकलना चाहता था। आँखें कुछ देखना चाहती थीं पर उठती न थीं। ओठ कुछ बोलना चाहते थे किन्तु थिरक कर रह जाते थे। लज्जा, हर्ष, नम्रता, उद्वेग, सम्भ्रम आदि बहुत से भाव मुख पर खेल रहे थे।

भवदेव ने अँगूठी पहिनाई! रागरंजित नखों वाली सीधी तथा लम्बी अँगुलियों को देखा। कंकण पहिनाए। कोमल बाहु पर आँखें गईं। गले में हार डाला। छाती पर दृष्टि जम गई। इतने में सूचना मिली—भवदत्त मुनि आए हैं और छोटे भाई से मिलना चाहते हैं।

भवदेव उठ खड़ा हुआ। अलङ्कारों की रस्म जहाँ थी, वहीं रह गई। भाभियों ने रोका—'देवर जी! एक कंठा तो और पहिना जाओ!' बड़ी उमर वाली महिलाओं ने कहा—'इस प्रकार बीच में छोड़ने से अपशकुन होता है।' किन्तु उसने किसी की न सुनी। अभी आता हूँ, कहता हुआ वह सब कुछ बीच में छोड़ कर चला गया।

भाई के दर्शन किए। आँखों में आँसू छलछला आए। भवदत्त भी मोह के वेग को न रोक सके। दोनों भाई एक दूसरे को आँखों से पीने लगे।

भवदेव उन्हें भोजन के लिए कैसे कहे? आखिर तो वे

मुनि थे। वह पात्र भरने के लिए घी की हँडिया उठा लाया, किन्तु मुनि का पात्र पहले से भरा हुआ था। कुटुम्बियों ने उनका हृदय से स्वागत किया था।

कुछ देर इधर उधर की बातें करके मुनि ने चलने की इच्छा प्रकट की। गाँव के लोग पहुँचाने के लिए साथ हो लिए। भवदेव भी घी की हंडिया कंधे पर रखे उनके साथ चल पड़ा।

कुछ दूर पहुँचाकर गाँव के लोग लौट आए किन्तु भवदेव न लौटा। वह सोच रहा था—बड़ा भाई जब तक अपने आप लौट जाने के लिए न कहे तब तक कैसे लौटूँ ?

मुनि चलते चलते उपाश्रय में पहुँच गए। दूसरे मुनियों ने जान लिया साथ में भाई ही होगा। एक ने हँसी में कहा—क्या अपने छोटे भाई को दीक्षा दिलाने के लिए लाए हो ?

भवदत्त ने हँसी में ही उत्तर दिया—हाँ।

भवदेव ने बड़े भाई की 'हाँ' को 'ना' करना उनका अपमान समझा। उसने उसी समय हाँ को सत्य सिद्ध कर दिया। वह वापस न लौटा।

युवतियों ने घेर रखा था। मधुर परिहास हो रहे थे। साथ में कटाक्ष भी। भवदेव पत्नी को आभूषण पहिना रहा था। उत्सुकता के कारण कभी-कभी आँख उठाकर देखता किन्तु फिर नीची कर लेता।

वधू नागिला परम सुन्दरी थी। उसके नील धवल विशाल लोचन स्नेह की वृष्टि कर रहे थे। स्मित ओठों से बाहर निकलना चाहता था। आँखें कुछ देखना चाहती थीं पर उठती न थीं। ओठ कुछ बोलना चाहते थे किन्तु थिरक कर रह जाते थे। लज्जा, हर्ष, नम्रता, उद्वेग, सम्भ्रम आदि बहुत से भाव मुख पर खेल रहे थे।

भवदेव ने अँगूठी पहिनाई! रागरंजित नखों वाली सीधी तथा लम्बी अँगुलियों को देखा। कंकण पहिनाए। कोमल बाहु पर आँखें गईं। गले में हार डाला। छाती पर दृष्टि जम गई। इतने में सूचना मिली—भवदत्त मुनि आए हैं और छोटे भाई से मिलना चाहते हैं।

भवदेव उठ खड़ा हुआ। अलङ्कारों की रस्म जहाँ थी, वहीं रह गई। भाभियों ने रोका—'देवर जी! एक कंठा तो और पहिना जाओ!' बड़ी उमर वाली महिलाओं ने कहा—'इस प्रकार बीच में छोड़ने से अपशकुन होता है।' किन्तु उसने किसी की न सुनी। अभी आता हूँ, कहता हुआ वह सब कुछ बीच में छोड़ कर चला गया।

भाई के दर्शन किए। आँखों में आँसू छलछला आए। भवदत्त भी मोह के वेग को न रोक सके। दोनों भाई एक दूसरे को आँखों से पीने लगे।

भवदेव उन्हें भोजन के लिए कैसे कहे? आखिर तो वे

मुनि थे। वह पात्र भरने के लिए घी की हँडिया उठा लाया, किन्तु मुनि का पात्र पहले से भरा हुआ था। कुटुम्बियों ने उनका हृदय से स्वागत किया था।

कुछ देर इधर उधर की बातें करके मुनि ने चलने की इच्छा प्रकट की। गाँव के लोग पहुँचाने के लिए साथ हो लिए। भवदेव भी घी की हंडिया कंधे पर रखे उनके साथ चल पड़ा।

कुछ दूर पहुँचाकर गाँव के लोग लौट आए किन्तु भवदेव न लौटा। वह सोच रहा था—बड़ा भाई जब तक अपने आप लौट जाने के लिए न कहे तब तक कैसे लौटूँ ?

मुनि चलते चलते उपाश्रय में पहुँच गए। दूसरे मुनियों ने जान लिया साथ में भाई ही होगा। एक ने हँसी में कहा—क्या अपने छोटे भाई को दीक्षा दिलाने के लिए लाए हो ?

भवदत्त ने हँसी में ही उत्तर दिया—हाँ।

भवदेव ने बड़े भाई की 'हाँ' को 'ना' करना उनका अपमान समझा। उसने उसी समय हाँ को सत्य सिद्ध कर दिया। वह वापस न लौटा।

८

"यक्षराज ! क्या इसीलिए मैंने इतने दिन तुम्हारी सेवा की थी ? मुझ पर अत्याचार हो रहा है और तुम बैठे-बैठे देख रहे हो।" अर्जुन ने क्रोध और दीनता भरे शब्दों में कहा।

राजगृही नगरी के बाहर एक सुन्दर उद्यान था। फूलों और फलों से लदा हुआ। पक्षियों के कलरव से गुञ्जरित। प्राकृत सुषमा का भण्डार। नगर के छैल-छबीले वहाँ आते आनन्द मनाते और चले जाते। अर्जुन इसी उद्यान का माली था। वहीं रहता था।

उद्यान में एक मन्दिर था। उसमें मुद्गरपाणि यक्ष की मूर्ति थी। वही मन्दिर का देवता था। अर्जुन उसे अपना

उपास्यदेव मानता था। नित्य नवविकसित सुमनों से उसकी अर्चना करता। प्रत्येक ऋतु के नए फल उसके चरणों में चढ़ाता और नित्य प्रति उसका वन्दन एवं पूजन करता।

नगर में ललिता नाम की गोष्ठी थी। बहुत से विलासी युवक उसके सदस्य थे। भोगविलास, और दुराचार उनका नित्यकर्म था। युवक तथा युवतियों में भ्रष्टाचार का प्रसार ही उनका ध्येय था।

एक दिन ललिता गोष्ठी के छह सदस्य उस उद्यान में पहुँचे। उन्होंने यक्षायतन में डेरा जमाया और सैर सपाटे में लग गए। अर्जुन की स्त्री बन्धुमती बहुत सुन्दरी थी। गोष्ठी के सदस्यों ने उसे देखा और पकड़ लिया। अर्जुन ने विरोध किया तो उसे बाँध कर डाल दिया। इसके बाद वे सभी बन्धुमती के साथ दुराचार करने लगे।

अर्जुन इस दृश्य को नहीं देख सका। उसकी आँखों में खून उतर आया, किन्तु विवश था। अन्त में उसे अपने देवता पर क्रोध आया। विपत्ति में सहायता प्राप्त करने के लिए ही तो देवता की सेवा की जाती है। जो देवता अपने भक्त को नष्ट होता हुआ देखकर भी चुप बैठा रहे, वह किस काम का?

अर्जुन ने यक्ष को लक्ष्य करके कहा—यक्षराज! क्या मैंने इतने दिन तुम्हारी सेवा इसी लिए की थी? मुझ पर अत्याचार हो रहा है और तुम बैठे-बैठे देख रहे हो। क्या तुम्हारे में इतना बल नहीं है कि इन दुराचारियों को दण्ड दे सको? यदि यही बात है तो मैंने धोखा खाया।

भक्त की कातरता पर यक्ष पसीज गया। वह उसी समय अर्जुन के शरीर में प्रवेश कर गया। सभी बन्धन कच्चे धागे

के समान टूट गए। यक्षाविष्ट अर्जुन ने वहीं पड़ा हुआ मुद्गर उठा लिया और गोष्ठी के छह सदस्यों तथा बन्धुमती को मार डाला। इसके बाद वह छह पुरुष और एक स्त्री को प्रतिदिन मारने लगा।

नगरी में ढिंढोरा पिट गया—"हत्यारा अर्जुन, स्त्री औ पुरुषों को जान से मार रहा है, कोई बाहर न निकले।"

छह महीने बाद श्रमण भगवान् महावीर विचरते हु वहाँ पधारे। नगरी के बाहर गुणशील चैत्य में ठहर गए लोगों को पता चला। दर्शनों की इच्छा होने पर भी अर्जुन से डरता हुआ कोई बाहर न निकलता था।

सुदर्शन सेठ शास्त्रों का जानकार था, इतना ही नहीं वह उन उपदेशों को अपने जीवन में उतार चुका था। उस मन में सोचा—"आत्मा अमर है। इसे अर्जुन क्या, को भी नहीं मार सकता। शरीर नश्वर है। वह तो नष्ट होग ही। इसे बचाने के लिए किसी शुभ कार्य से रुकना उचित नहीं है। नगरी से बाहर भगवान् महावीर पधारे हैं। उनके दर्शन करके आत्मा का उद्धार करना मेरा कर्तव्य है। इस नश्वर शरीर के लिए उस शुभ कर्तव्य से विमुख होना उचित नहीं है। यदि दर्शन हो गए तो जीवन सफल हो जाएगा। यदि अर्जुन या किसी दूसरे कारण से बीच में ही प्राण समाप्त हो गए तो भी सद्गति ही होगी। निष्कर्म बैठे रहने से तो वह भी अच्छा है।"

उसने भगवान् के दर्शनार्थ जाने का निश्चय कर लिया। सगे सम्बन्धी तथा मित्रों ने बहुत रोका किन्तु वह अपने संकल्प पर दृढ़ था।

नगरी के द्वार से बाहर निकलते ही अर्जुन सामने आ गया। किन्तु सुदर्शन भयभीत न हुआ। न उसके हृदय में प्रतिहिंसा की भावना उत्पन्न हुई। वह ऐसे महापुरुष के दर्शन करने जा रहा था जिसने अपने जीवन तथा उपदेशों द्वारा प्राणिमात्र से मित्रता रखने का पाठ पढ़ाया। भला, वह एक मनुष्य को अपना शत्रु कैसे मानता! वह अपने प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए तैयार हो गया प्राण रक्षा का भी प्रयत्न नहीं किया। वह अन्त तक अर्जुन को अपना मित्र मानता रहा।

अर्जुन ने पास आते ही मुद्गर उठाया किन्तु वह नीचे न आ सका। अहिंसा के सामने राक्षसी वृत्ति पराजित हो गई। यक्ष देवता कूच कर गए।

उसी समय अर्जुन अशक्त होकर गिर पड़ा। सुदर्शन ने उसे उठाया और सान्त्वना दी। अर्जुन को अपने किए पर पश्चात्ताप होने लगा। वह अपने को पतित मानने लगा।

सुदर्शन ने कहा—पतितों के उद्धारक श्रमण भगवान् महावीर यहाँ पधारे हैं। वे तुम्हारा भी उद्धार करेंगे। चलो, मेरे साथ चलो।

अर्जुन भोले बालक के समान सेठजी के साथ हो लिया। भगवान् के दर्शन किए। व्याख्यान सुना। उसी समय उसने मुनिव्रत अंगीकार कर लिया।

अर्जुन मुनि अपने पापों का प्रायश्चित करने के लिए उग्र तपस्या करने लगे। दो दिन उपवास रखते और तीसरे दिन एक बार भोजन करते।

जब वे भिक्षा के लिए जाते तो लोग उन्हें द्वेषभरी दृष्टि से देखते। कोई उन्हें गालियाँ देता, कोई थप्पड़ मारता और

कोई लाठी से पीटता। कोई उसे अपनी बहिन का हत्यारा बताता, कोई भाई का, कोई पिता का, कोई माता का, कोई पुत्र का और कोई मित्र का।

किन्तु अर्जुन मुनि मन में किसी प्रकार का रोष लाए बिना सब कुछ सहते। कभी रोटी मिलती तो पानी न मिलता। कभी पानी मिलता तो रोटी न मिलती। कभी कुछ न मिलता। अपमान, ताड़ना तथा दूसरी यातनाएँ तो प्रति दिन मिलतीं। फिर भी वे शान्त रहे। मन में किसी प्रकार का कालुष्य न आने दिया।

छह महीने की कठोर साधना द्वारा अर्जुन मुनि की आत्मा निर्मल हो गई। उनके सभी पाप धुल गए। सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनकर उन्होंने मोक्ष प्राप्त की।
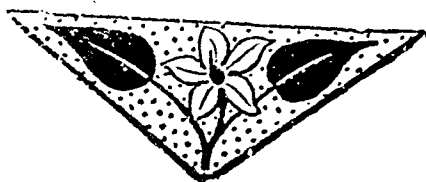
६

"किसी साधु का उपदेश मत सुनना। उनके शब्दों को कभी कान में मत पड़ने देना। मेरी यह अन्तिम शिक्षा है। बेटा! इसे मत भूलना।" लोहखुर ने अपने पुत्र रौहिणेय से मरते समय कहा

राजगृह के पास वैभारगिरि में एक डाकू रहता था। धन तथा स्त्रियों का अपहरण करना ही उसका व्यवसाय था। नगर के लोग उसके भय से काँपते थे। नाम था, लोहखुर। उसका पुत्र रौहिणेय भी प्रसिद्ध डाकू बन गया था। पिता की सारी विद्याएँ सीख गया था। प्रत्येक बात में दो कदम आगे था। मरते समय पिता ने उसे उपरोक्त शिक्षा दी। रौहिणेय ने उसे गाँठ बाँध लिया।

एक बार वह राजगृह की ओर जा रहा था। मार्ग में

भगवान् महावीर का उपदेश हो रहा था। उसने कानों में अँगुलियाँ लगालीं और वेग के साथ चलना शुरू किया।

जब वह समवसरण के ठीक सामने पहुँचा तो पैर में काँटा लग गया। उसे निकालने के लिए नीचे झुका तो भगवान् के मुख से निकले हुए ये शब्द अचानक उसके कानों में पड़ गए—

"देवों के पैर पृथ्वी को नहीं छूते। उनकी पलकें नहीं झँपतीं। पुष्पमालाएँ नहीं मुर्झातीं। शरीर पर पसीना नहीं आता।"

रौहिणेय नहीं सुनना चाहता था किन्तु इतने शब्द तो कानों में पड़ ही गए।

राजगृह में प्रतिदिन चोरियाँ होने लगीं। आज किसी सेठ के घर डाका पड़ता तो कल दूसरे के घर। प्रजा ने एकत्रित होकर राजा से पुकार की। राजा श्रेणिक ने अधिकारियों को धमकाया, किन्तु वे भी लाचार थे। चोरी के नित्य नए ढङ्ग निकलते। उन्हें पता भी न लगता कि चोर कहाँ से आया कहाँ से भाग गया।

अन्त में प्रधानमन्त्री अभयकुमार ने चोर पकड़ने का कार्य अपने ऊपर लिया। उसने गुप्त रूप से नगर के सभी द्वारों पर सशस्त्र सैनिकों को तैनात कर दिया। सभी को यह आज्ञा थी कि जो भी अपरिचित व्यक्ति नगर से बाहर निकलता दिखाई दे, उसे पकड़ लो।

रौहिणेय चोरी का माल नगर में ही छिपा देता था। बात ठण्डी पड़ने पर धीरे-धीरे अपनी गुफा में ले जाता। जब वह प्रातःकाल निकलने लगा तो खाली हाथ था। फिर भी सैनिकों ने पकड़ लिया।

वह अभयकुमार के पास लाया गया। किन्तु जब तक चोरी न पकड़ी जाय और यह सिद्ध न हो जाय कि वही चोर है तब तक दण्ड देना अन्याय है। अभयकुमार ने उससे पूछ-ताछ प्रारम्भ की। उसने बताया—मेरा नाम दुर्गचण्ड है। शालिग्राम में रहता हूँ। खेती-बाड़ी करके अपना जीवन निर्वाह करता हूँ।

अभयकुमार ने गाँव में गुप्त रूप से जाँच पड़ताल करवाई। बात ठीक निकली। दुर्गचण्ड नाम का एक किसान शालिग्राम में रहता था उस दिन वह बाहर गया हुआ था। रौहिणेय ने समझ-बूझकर उसका नाम लिया था। उसने सभी बातों का इलाज पहले से कर रखा था।

अभयकुमार को एक बात और सूझी। उसने रौहिणेय को खाने के लिए ऐसी वस्तुएँ दीं जिनसे वह बेहोश हो गया। बेहोशी की दशा में उसे एक सजे हुए कमरे में पहुँचा दिया गया। चारों ओर गीत, वाद्य और नृत्य की व्यवस्था थी। सोलह शृङ्गार सजी हुई सुन्दरियाँ हाथ बाँधे खड़ी थीं।

रौहिणेय की मूर्च्छा टूटी। वह होश में आया। आँखें खोलीं। कमरे की सज-धज तथा सुन्दरियों को देखकर वह आश्चर्य में पड़ गया। सुन्दरियों ने निवेदन किया—

"प्राणनाथ! हमारा अहोभाग्य है कि श्रीमान् ने मृत्युलोक को छोड़ कर स्वर्ग में पदार्पण किया। हमें आपको बहुत दिनों से प्रतीक्षा थी। इस दिव्य सम्पत्ति और ऐश्वर्य के आप स्वामी हैं। ये सभी भोग-विलास आपके हैं। हम आपकी दासियाँ हैं। आपकी आज्ञा को अपना अहोभाग्य मानती हैं। आप अपनी इच्छानुसार स्वर्ग का आनन्द लीजिए।"

इतने में संगीत और नृत्य प्रारम्भ हुए। रौहिणेय को ऐसा

प्रतीत होने लगा जैसे वह सचमुच स्वर्ग में पहुँच गया हो। संगीत की मादकता में रौहिणेय अपने को भूल गया।

थोड़ी देर बाद हाथ में रत्नमण्डित सुवर्णयष्टि लिए हुए तथा सुन्दर वस्त्राभरणों से विभूषित एक युवक आया। उसके मुख से तेज टपक रहा था। गति में गम्भीरता थी। उसका संकेत मिलते ही नृत्य और गीत बन्द हो गये। चारों ओर स्तब्धता छा गई।

युवक ने रौहिणेय के सन्मुख होकर उसका अभिवादन किया और अनुशासन पूर्ण शब्दों में कहा—

"महानुभाव! आपका स्वागत है। हम स्वर्गवासी आपका हृदय से अभिनन्दन करते हैं। इस लोक का यह नियम है कि प्रत्येक नवागन्तुक अपने पूर्व जन्म के सुकृत और दुष्कृतों का यथार्थ वर्णन करता है। शुद्ध हृदय से अपना सम्पूर्ण वृत्त सुना देने के पश्चात् ही वह स्वर्ग में निवास का अधिकारी बनता है। सौधर्म देवलोक के स्वामी सुधर्मेन्द्र की आज्ञा से मैं यहाँ आया हूँ। आपसे प्रार्थना है कि आप सारा इतिवृत्त सुनाने की कृपा करें।"

रौहिणेय वहाँ के ऐश्वर्य और भोग-विलासों को देखकर चकित रह गया। वहीं निवास करने की लालसा जागृत हो उठी। भला इस सुख को छोड़कर मृत्युलोक में जाना कौन पसन्द करेगा? उसने अपना सारा वृत्तान्त सुनाने का निश्चय कर लिया।

इतने में उसे भगवान् महावीर के शब्द याद आये— "देवों के पैर पृथ्वी को नहीं छूते।" ये सभी तो पृथ्वी पर चल रहे हैं।

"उनकी पलकें नहीं झँपतीं।" इन सुन्दरियों में तो यह

बात नहीं है। इनकी मालाओं के पुष्प भी कुछ म्लान से हो गये हैं। नर्तकियों को पसीना भी आ रहा है।

उसे खयाल आया—"कहीं यह धोखा तो नहीं है।" ज्यों-ज्यों विचार किया अभयकुमार का जाल स्पष्ट होता गया। रौहिणेय ने पूर्वजन्म के वृत्तान्त को इस प्रकार घड़ कर सुनाया—जैसे वह कोई बहुत भला आदमी रहा हो। उसने अपना नाम वही दुर्गचण्ड बताया और खेती को अपनी आजीविका।

अभयकुमार का रचा जाल निष्फल गया। चोरी न प्रमाणित होने के कारण रौहिणेय को छोड़ दिया गया। उसके मन में विचार आया—"अनिच्छा पूर्वक सुने गये महावीर के कुछ शब्दों ने मुझे मृत्यु से बचा लिया। यदि मैं उनका पूरा व्याख्यान सुन लेता तो कितना लाभ होता।

वह उसी समय भगवान् महावीर की शरण में पहुँचा। व्याख्यान सुना। शुद्ध हृदय होकर अपनी सारी कहानी सुनाई। श्रेणिक राजा भी वहाँ बैठा था। उसने रौहिणेय के सारे अपराध क्षमा कर दिये। रौहिणेय की आत्मा पवित्र हो गई।

१०

"बेटा ! मुझे कम दिखाई देता है किन्तु तुम तो देख रहे थे। खिचड़ी के बदले भैंस का बाँटा खा गए !" माँ ने आँखों में आँसू भर कर कहा।

"माँ ! जो पदार्थ भैंस नित्य खाती है, क्या मैं उसे एक बार भी नहीं खा सकता ? फिर उसमें तो घी था। मुझे वह बेस्वाद नहीं लगा।" पुत्र ने उत्तर दिया।

उत्तर देने वाले थे सेठ फकीरचन्दजी। जोधपुर राज्य में तींवरी नाम का गाँव है। सेठ जी वहीं रहते थे। मध्यप्रान्त में अच्छा कारोबार था। लाखों की सम्पत्ति थी। हजारों का लेन देन था।

सब तरह से सम्पन्न एवं समृद्ध होने पर भी सेठ जी

धर्म की ओर विशेष झुके हुए थे। दिन रात धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन में लगे रहते। कारोबार मुनीमों पर छोड़ रखा था। संतसमागम तथा शास्त्र बाँचने में ही सारा समय बीतता। धर्मरुचि उत्तरोत्तर बढ़ती गई। संसार के भोग नीरस प्रतीत होने लगे। दुनियादारी जंजाल दीखने लगी। मन में दीक्षा लेने की भावना जाग उठी।

एक दिन उन्होंने अपनी अभिलाषा माँ के सामने प्रकट की। भला ममता से भरी हुई माता कैसे अनुमति दे सकती थी! टालने के लिए इतना कह दिया—"तुम्हारे चले जाने पर छोटे बच्चों की देख रेख कौन करेगा? जब ये बड़े हो जाएँगे तब देखा जाएगा।"

सेठजी माता की आज्ञा का पालन करना अपना धर्म मानते थे। वे दीक्षा लेने से तो रुक गए किन्तु मन की प्रवृत्ति को न रोक सके। उसी प्रकार विरक्त रहते हुए सारा समय धार्मिक क्रियाओं में बिताने लगे।

माता ने सोचा यदि इन्हें कारोबार में लगा दिया जाय तो सम्भव है, मन फिर जाय। गाँव में कोई काम धन्धा नहीं है, इसी लिए मन उचटा रहता है।

उसने सेठजी से कहा—"बेटा! कुछ दिन परदेश में रहकर अपना कारोबार ही देख आओ। सारा काम मुनीमों के भरोसे छोड़ कर निश्चिन्त न हो जाना चाहिए।"

माता की आज्ञा पाते ही सेठ जी ने प्रस्थान कर दिया। मध्यप्रान्त में अपनी दुकान पर पहुँच गए। नौकरों में धूम मच गई—सेठजी आए, सेठजी आए। मुनीमों ने अपना सारा

हिसाब तथा वहीखाता ठीक किया। उन्हें डर था कि कहीं सेठजी देखने न लग जावें।

किन्तु सेठ जी दूसरे ही वहीखाते में लीन थे। वे दिन-रात आत्मचिन्तन में लीन रहते। नौकर पूछते—"सरकार! भोजन क्या बनेगा?" सेठजी कोई उत्तर न देते। बहुत पूछने पर कह देते—"जो बनेगा, खा लूँगा।" थाली में कई प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ परोसे जाते किन्तु उनके लिए सब समान थे। जो हाथ में आता उसे ही खा लेते। स्वादिष्ट वस्तुएँ धरी रह जातीं और नीरस खा ली जातीं।

जो व्यक्ति आत्मविकास के महामार्ग पर चल पड़ता है वह सांसारिक भोगों से विचलित नहीं होता। आत्मानन्द के सामने वे सभी फीके मालूम पड़ते हैं। वास्तव में देखा जाय तो कष्ट और विघ्नबाधाएँ उस लम्बे मार्ग के काँटे हैं तथा भौतिक सुख विश्राम स्थल हैं। जो पथिक अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है उसे न तो काँटों से डरकर मार्ग छोड़ना चाहिए और न किसी वृक्ष की ठंडी छाया को देखकर अपनी यात्रा को भूल जाना चाहिए। लक्ष्य चलने से ही प्राप्त होगा। मार्ग में विश्रान्ति के लिए जितना समय लगाया जाएगा उतना ही लक्ष्य दूर हो जाएगा। सेठ जी अपनी यात्रा में सतत जागरूक थे। वे अपनी ही मस्ती में चले जा रहे थे। दुनियादार जहाँ पाई पाई का लेखा करते हैं उस ओर उन्होंने आँखें बन्द कर रखी थीं। वे उन वस्तुओं को तुच्छ समझते थे। वस्तु का मूल्य व्यक्ति की भावना पर निर्भर है। मानो तो सब कुछ है, न मानो तो कुछ भी नहीं।

मुनीम वहीखाता दिखाते। वे जो कहते सुनते रहते, किन्तु ध्यान दूसरी ओर ही लगा रहता। सनाओ तो ठीक,

न सुनाओ तो ठीक। यदि किसी ओर रुचि थी तो वह थीं धार्मिक क्रियाएँ। भोजन तथा दूसरी बातों में लापरवाही होने से उनका स्वास्थ्य गिरने लगा। माता को मालूम पड़ा तो उसने उन्हें फिर तींवरी बुला लिया।

हमारी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में धनवान और दरिद्र तो थे किन्तु रहन-सहन प्रायः सभी का एक-सा था। दोनों हाथ से काम करते थे, एक सरीखा खाते और एक सरीखे मोटे वस्त्र पहिनते थे। उस समय आर्थिक वैषम्य विशेष महत्त्व न रखता था। यही कारण है कि उन दिनों मजदूर और पूँजीपति के रूप में दो वर्ग न बने थे। किसी को एक दूसरे के प्रति जलन न थी। सभी परिश्रम करते थे, सभी सुखी थे।

रसोई बनाना, पानी भरना, चक्की पीसना, चौका बर्तन तथा घर की सफाई स्त्रियों के मुख्य कार्य थे। उनमें भी धन-वान और दरिद्र का कोई प्रश्न न था। चक्की पीसना और पानी भरना उनके लिए आनन्द का साधन था। कूए या जलाशय पर तो प्रतिदिन दोनों समय उनका सम्मेलन-सा होता था। सभी घरों की स्त्रियाँ वहाँ इकट्ठी होतीं और प्रेम सम्बन्ध स्थापित करतीं। फकीरचन्दजी की पत्नी भी प्रतिदिन दोनों समय कूए पर पानी लेने जाया करती थी।

मारवाड़ में सायङ्काल का मुख्य भोजन है खिचड़ी। एक दिन सेठानीजी खिचड़ी उतार कर पानी लेने चली गईं। पास ही भैंस के लिए बाँटा रखा हुआ था। सेठजी भोजन करने आये। वृद्धा माँ भोजन परोसने लगी। कम दिखाई देने के कारण खिचड़ी के स्थान पर बाँटा परोस दिया। सेठजी खाकर चले गये।

सेठानी ने आकर देखा—खिचड़ी ज्यों-की-त्यों पड़ी है। पूछने पर सारी बात मालूम पड़ गई। दूसरे दिन सेठजी के उपवास था। वे दिन रात उपाश्रय में ही रहे। तीसरे दिन घर आए तो माँ ने कहा—

"बेटा! बुढ़ापे के कारण मुझे कम दिखाई देता है तो क्या हुआ! तुम्हें तो दीखता था, खिचड़ी के बदले बाँटा खा गये।"

"माँ! जो वस्तु भैंस नित्य खाती है, क्या मैं उसे एक दिन भी नहीं खा सकता? फिर उसमें तो तुमने घी डाला था। मुझे तो वह बेस्वाद नहीं लगा।"

माँ का हृदय धक् सा रह गया। वह नहीं जानती थी कि उसका पुत्र इस दशा तक पहुँच गया है। वह समझ गई कि इसे आत्मविकास से रोकना, इस पर अत्याचार करना है।

११

मगध सम्राट् महाराज श्रेणिक का दरबार भरा हुआ था। अत्यन्त प्रतिभाशाली राजकुमार अभयकुमार प्रधानमन्त्री के आसन पर विराजमान थे। बड़े-बड़े सामन्त तथा दरबारी अपने-अपने स्थान पर बैठे थे। प्रजा सम्बन्धी बातें होने लगीं। उसी सिलसिले में श्रेणिक ने पूछा—"अभयकुमार! क्या तुम यह बता सकते हो कि राजगृह में धर्मात्मा कितने हैं और पापी कितने हैं? "अभयकुमार ने उत्तर दिया—महाराज! इसमें कौन सी बड़ी बात है?"

दूसरे दिन राजगृही में यह घोषणा हो गई—"महाराज श्रेणिक यह जानना चाहते हैं कि उनके नगर में धर्मात्मा कितने हैं और पापी कितने हैं? इसके लिए नगर के बाहर

उद्यान में दो घेरे बनाए गए हैं। [जो पापी हों वे काले घेरे में चले जावें और जो धर्मात्मा हों वे सफेद घेरे में।"

श्रेणिक की आज्ञा को कौन टाल सकता था? सभी नगरवासी घेरों में पहुँच गए। अभयकुमार ने देखा सफेद घेरा खचाखच भरा हुआ है और काले घेरे में केवल दो व्यक्ति हैं। छान-बीन शुरू हुई।

सफेद घेरे में घुसते ही एक वेश्या मिली। अभयकुमार ने पूछा—"देवी! तुम क्या धंधा करती हो? अपने को धर्मात्मा सिद्ध करने के लिए तुम्हारे पास क्या आधार है?"

वेश्या ने उत्तर दिया—"मन्त्रिप्रवर! मैं एक वेश्या हूँ। जनता का मनोरञ्जन करना मेरा कार्य है। मैंने अपना शरीर, अपनी आत्मा और अपना सर्वस्व जनता की सेवा में अर्पित कर रखा है। आप अच्छी तरह जानते हैं, मनुष्य को जिस प्रकार खाने और पीने की इच्छा होती है उसी प्रकार भोग की इच्छा भी होती है। जिस प्रकार अन्न और पानी के बिना मनुष्य के प्राण तक चले जाते हैं उसी प्रकार भोगेच्छा पूर्ण न होने पर भी बहुत से आदमी मर जाते हैं। मैं उन्हें मृत्यु से बचाती हूँ। लोग अन्न और पानी देने वाले को तो धर्मात्मा कहते हैं और मुझे पापी। पता नहीं यह भेद-भाव क्यों रखा जाता है? मेरी दृष्टि में तो यह सर्वथा अन्याय है। आपका समाज जिन महिलाओं को पतित कहकर ठुकरा देता है, जिनके लिए कोई सहारा नहीं रहता, हम उन्हें सहारा देती हैं। हमारे यहाँ रहकर वे उपेक्षित और ठुकराई हुई बहिनें अपना जीवन सुख और आनन्दपूर्वक व्यतीत कर सकती हैं। यदि हम न हों तो आपके समाज द्वारा बनाई गई सारी मर्यादाएँ टूट जायँ। सतीत्व या पातिव्रत्य नाम की

जिस मर्यादा को आप लोग बहुत महत्त्व देते हैं वह हमारे ही कारण टिकी हुई है। हम बदनामी का टीका अपने ऊपर लेकर दूसरों के धर्म की रक्षा करती हैं। हम स्वयं कलङ्कित होकर दूसरों को निष्कलङ्क रखती हैं। स्वयं विष पीकर दूसरों को अमृत बाँटती हैं। समाज हमें घृणित कहता है, पतित कहता है, नीच कहता है। शास्त्र हमें कोसते हुए अपना शब्दकोश पूरा कर डालते हैं। फिर भी अन्दर ही अन्दर हमारी आवश्यकता का अनुभव करते हैं। समाज हमें अपना आवश्यक अंग भी मानता है और कोसता भी है। राजा से लेकर वन में रहने वाले ऋषि तक हमारे बिना न टिक सके। मन्त्रिराज ! समाज की सारी भर्त्सनाएँ सहकर भी हम अपने धर्म पर स्थिर हैं और समाज सेवा में निरत हैं, हमारे आदर्श पर विरले ही पहुँचते हैं।

हम अनुकूल तथा प्रतिकूल, अच्छे तथा बुरे, सुन्दर तथा कुरूप सभी प्रकार के पुरुषों का स्वागत करती हैं। क्या यह मन पर विजय प्राप्त किए बिना हो सकता है ? सभी प्रकार के भोग भोगती हुईं भी हम किसी के मोह में नहीं फँसतीं। हम किसी के वियोग में दुखी नहीं होतीं, किसी के आगमन पर प्रसन्न नहीं होतीं। आसक्ति तथा मोह से सदा दूर रहती हैं। ऊपर से हम चाहे कुछ भी प्रकट करें किन्तु हमारा मन सदा निर्विकार रहता है। हमसे अधिक तपस्वी तथा धर्मात्मा आपको कोई न मिलेगा।"

अभयकुमार आगे बढ़ा। एक जुआरी सामने आया। उससे भी वही प्रश्न पूछा गया।

जुआरी बोला—"राजकुमार ! मैं एक जुआरी हूँ। मेरा धंधा सर्वथा निर्दोष तथा अहिंसापूर्ण है। मैं न किसी को

मारता हूँ, न पीटता हूँ, न अन्य प्रकार का कष्ट देता हूँ। मुझे अपने धंधे में किसी जीव की हिंसा नहीं करनी पड़ती। हमारा धन के साथ कोई मोह नहीं होता। हजारों रुपए खेल खेल में दे डालते हैं। आप ही बताइए—हमारे जितना निरीह कौन हो सकता है? दुनियाँ हमें बुरा कहती है, कहे। किन्तु हमें अपना धंधा सर्वथा निर्दोष प्रतीत होता है। जो व्यक्ति अनासक्ति और अहिंसा का अभ्यास नहीं करता, वह जूआ नहीं खेल सकता।"

आगे बढ़ने पर एक शराबी मिला। उसने बताया—"मेरे पिता बहुत बड़े व्यापारी थे। मेरे लिए लाखों की सम्पत्ति छोड़ गए हैं। इसलिए अब कमाने की आवश्यकता नहीं है। मैंने सन्तोष धारण कर रखा है। धन के लिए अधिक मारामारी नहीं करना चाहता। जो सम्पत्ति उन्होंने संचित की थी उसे खरचना मेरा काम है। आप जानते हैं, सम्पत्ति का संचय करना और संचय रखना दोनों पाप हैं। मैं अब उस पाप का परिमार्जन कर रहा हूँ। आर्थिक दृष्टि से भी रुपया घूमता ही रहना चाहिए। उसका कहीं अटके रहना, देश की आर्थिक उन्नति में बाधक है। मुझे इस बात का पूरा ध्यान है।

मन्त्रिवर! जब मैं शराब पी लेता हूँ तो अपना सारा सुख दुख भूल जाता हूँ। मुझे न किसी पर राग रहता है, न द्वेष। शत्रु और मित्र सभी बराबर हो जाते हैं। जिस एकता की भावना के लिए ऋषि मुनि कठोर साधना करते हैं वह मुझे मुँह से प्याला लगाते ही मिल जाती है। शराब पी लेने पर मनुष्य अपने संकुचित वातावरण को भूल जाता है। स्वार्थवृत्ति को छोड़ देता है। उस समय वह द्वन्द्वातीत अवस्था को पहुँच जाता है। राजकुमार क्या यह अधर्म है? क्या यह

पाप है ? क्या इस अवस्था के लिए बड़े बड़े योगी भी स्पृहा नहीं करते ?"

आगे बढ़े। एक शिकारी मिला। अभयकुमार ने पूछा—तुम प्रतिदिन पशुओं को मारते हो, फिर भी इस घेरे में क्यों आए ?

"अमात्यवर ! कौन किसको मारता है और कौन किसको उत्पन्न करता है ।" शिकारी ने दार्शनिक बनते हुए कहा ।

"सभी जीव अपने अपने किए हुए कर्मों के अनुसार भटक रहे हैं। अपना आयुष्य पूरा हुए बिना कोई नहीं मरता। मैं तो केवल निमित्त बना दिया जाता हूँ। यदि यह मान भी लिया जाय कि मैं मारता हूँ तो भी मेरे कारण बहुत से पशु अपनी नीच योनि से छुटकारा पा जाते हैं। उनमें से बहुत से मरकर मनुष्य बन जाते हैं। मैं उन्हें पशुयोनि से छुड़ाने में सहायता करता हूँ। क्या यह पाप है ?

"सिंह व्याघ्र आदि हिंसक पशु मार्ग में चलते हुए मनुष्यों को मार डालते हैं। मैं उन पशुओं को मारकर पथिकों को निर्भय कर देता हूँ। हरिण फसलें नष्ट कर डालते हैं। इससे मनुष्यों को भूखे मरना पड़ता है। क्या फसल को बचाना पाप है ?

राजकुमार ! खाना, पीना, उठना, बैठना, चलना, फिरना आदि हमारी प्रत्येक क्रिया में जीवहिंसा तो होती ही रहती है। यदि थोड़ी सी हिंसा से अधिक लोगों की भलाई हो तो वह पाप नहीं है।"

शिकारी का उत्तर सुनकर अभयकुमार और आगे बढ़े। उसे कई वेश्यागामी और लम्पट मिले। चोर मिले। धूर्त मिले।

ठग मिले। लुटेरे मिले। सभी ने अपनी अपनी सफाई पेश की। अभयकुमार सबकी सुनता हुआ, आगे बढ़ता गया।

सफेद घेरे का चक्कर पूरा करके वह काले घेरे में पहुँचा। वहाँ केवल दो व्यक्ति थे। एक अधेड़ था, दूसरा युवक। दोनों नगर के प्रतिष्ठित धनवान् थे। उदारता, ईमानदारी तथा सचाई आदि गुणों के लिए दूर दूर तक प्रसिद्ध थे। उन्हें काले घेरे में देखकर अभयकुमार को आश्चर्य हुआ। उसने युवक की ओर लक्ष्य करके पूछा—

"भद्र पुरुष ! आप इस काले घेरे में क्यों खड़े हैं ? आपने कौनसा पाप किया है ?"

युवक ने कहना प्रारम्भ किया—"मन्त्रिराज ! मेरे पिता इसी नगर के महासम्पन्न व्यक्ति थे। घर में सभी प्रकार का सुख था। एक बार हमारा बड़ा जहाज विक्रेय वस्तुएँ भरकर विदेश के लिए रवाना हुआ। उसमें हीरे, माणिक्य आदि बहुमूल्य वस्तुएँ अधिक थीं। हमारे अतिरिक्त नगर के बड़े-बड़े व्यापारियों का माल लदा हुआ था। रास्ते में तूफान आया और जहाज एक चट्टान से टकराकर डूब गया। उसमें जिन व्यापारियों का माल था, मेरे पिता ने सबको पैसा पैसा चुका दिया। उन्हीं दिनों इस प्रकार की दो घटनाएँ और हो गईं। हमारे पास कुछ न बचा। मानसिक आघात और अधिक परिश्रम के कारण पिताजी बीमार पड़ गए और फिर न उठे।

घर में मेरी माता थी, मैं था और दो बहनें थीं। वे विवाह योग्य हो गई थीं। इधर हमारा निर्वाह भी कठिनाई से हो रहा था।

एक दिन मेरी माता ने कहा—बेटा ! इस प्रकार कैसे काम चलेगा ! गुजारा तो करना ही होगा। मैं एक उपाय

बताती हूँ। सेठ जिनदास उपाश्रय में प्रतिदिन सामायिक करते हैं। उस समय वे अपना मोतियों का हार उतार कर रख देते हैं। तुम जाओ और उसे उठा लाओ।

मैं सुनकर चकित रह गया। लाखों की सम्पत्ति जिनके चरणों पर लोटती थी उस माता के मुँह से ये शब्द! अभाव किस प्रकार नैतिक पतन का कारण बन जाता है, उसका यह ज्वलन्त उदाहरण था। चोरी और धर्म स्थान में! मुझे चुप देखकर माँ ने फिर वही बात दोहराई। यहाँ तक कह दिया—यदि तुम यह कार्य न करोगे तो मैं अनशन करके मर जाऊँगी।

मुझे तैयार होना पड़ा। उपाश्रय में पहुँचा। सेठजी सामा-यिक में बैठे थे। पास ही हार पड़ा था। मैं हिचकिचाया, किन्तु माँ की बात याद आते ही फिर आगे बढ़ा। मेरे सभी अंग काँप रहे थे, सुध-बुध खो बैठा था। किन्तु एक अज्ञात प्रेरणा मुझे उस अकर्तव्य की ओर बढ़ाए ले जा रही थी।

मैंने हार उठा लिया। वे कुछ न बोले। मैं घर चला आया और माँ के सामने हार रख दिया।

माँ ने फिर कहा—इसे उन्हीं सेठजी के पास गिरवी रखकर दस हजार रुपये उधार ले आओ।

मैं उलझन में पड़ गया। उनके देखते हुए चोरी की। अब उसी चोरी की हुई वस्तु को, जो उन्हीं की है, गिरवी रख कर उधार लेने जाऊँ। यह भी कोई बात है? वे क्यों देने लगे! हार रख लेंगे और मुझे पुलिस के हवाले कर देंगे। यदि दयालु हुए तो धक्के देकर निकाल देंगे। हार भी जायगा और चोर के रूप में प्रसिद्ध भी हो जाऊँगा।

किन्तु माँ न मानी। मुझे जाना पड़ा। सेठजी के यहाँ पहुँचा तो उन्होंने बिना कुछ पूछे या कहे दस हज़ार रुपए दे दिये।

मेरी आत्मा पर चोट-सी लगी। यदि वे मुझे पकड़वा देते या धक्के देकर निकाल देते तो मैं समझता मेरे पाप का प्रायश्चित हो रहा है। उनकी सहानुभूति से वह पाप मेरी अन्तरात्मा के सामने प्रचण्ड रूप से चमकने लगा। मैं भारी पैरों के साथ रुपए लेकर घर चला आया।

हमने व्यापार किया। भाग्य ने पलटा खाया। अब अवस्था सुधर गई है। सेठजी के रुपये लौटा दिये हैं। हार भी इन्हीं के पास है। फिर भी कुमार! मेरे मन में रह-रह कर पश्चात्ताप हो रहा है। क्या हार उठाकर मैंने पाप नहीं किया। मैं अपने को पापी मानता हूँ और इसलिए इस घेरे में खड़ा हूँ।"

उसके बाद सेठ जिनदास से पूछा गया। सेठजी ने कहा—"कुमार! मैंने अपने जीवन में एक पाप किया है। उसका मुझे अभी तक पश्चात्ताप है। जब तक उसका प्रायश्चित्त न कर लूँ मैं अपने को पापी मानता रहूँगा।"

उसने युवक की ओर निर्देश करते हुए कहा—"इसके पिता से मेरी गहरी मित्रता थी। जब उनका देहान्त हुआ मैं इनकी आर्थिक परिस्थिति से पूर्ण परिचित था। मेरे मन में कई बार आया कि इनको सहायता पहुँचाऊँ। किन्तु आज-कल करते-करते बात पुरानी पड़ गई और मुझे खयाल न रहा। मेरी आँखें उस दिन खुलीं जिस दिन यह हार उठाकर ले गया। मेरे मन में आया, इस चोरी के लिए मैं उत्तरदायी हूँ। मेरा कर्तव्य था कि समय रहते इनकी सहायता करता और यह

अवसर न आने देता। अमात्यवर! शक्ति रहते हुए किसी की सहायता न करना क्या पाप नहीं है? कोई बालक मकान से गिर रहा हो और हम नीचे खड़े देखते रहें, उसे न झेलें तो क्या यह पाप नहीं है?

राजकुमार! एक सत्यनिष्ठ, धर्मपरायण मित्र के पुत्र को यदि मैं चाहता तो गड्ढे में गिरने से बचा सकता था। मैं आलस्य में पड़ा रहा। अथवा मैंने इसकी गम्भीरता का समुचित अनुभव नहीं किया। इसी कारण तो मुझसे यह पाप हो गया।"

अब मैं सुखी हूं!

१२

"राजन्! तुम स्वयं अनाथ हो, फिर मेरे नाथ कैसे बन सकते हो?" मुनि ने सहज गम्भीरता के साथ मगध सम्राट् से कहा।

राजगृह के बाहर एक उद्यान था। रंग-बिरंगे पुष्पों से सजा हुआ, विविध प्रकार के फलों से भरा हुआ, वृक्ष तथा लताओं से घिरा हुआ। उसी में मण्डितकुक्षि नाम का चैत्य था।

एक दिन मगधाधिपति महाराज श्रेणिक घूमते हुए उधर आ निकले। उद्यान के कोने में देखा—एक योगी पद्मासन लगाए बैठा है। दृष्टि नाक पर जमी है। शरीर के ऊपर का भाग सीधा तना हुआ है। न मन में हलचल है, न वचन में

और न तन में। प्राणवायु भी डर-डर कर चल रही है। ललाट पर विचित्र तेज चमक रहा है, जैसे अन्दर ही अन्दर कोई दिव्य ज्योति प्रकट हुई हो। उसे न राजा के आने की खबर है न और किसी बात की।

योगी की आयु बीस वर्ष के लगभग होगी। अभी मसें भी न भीगीं थीं। शरीर सुन्दर तथा गौरवर्ण था। मुख पर तेज चमक रहा था। चारों ओर प्रभा सी फैल रही थी।

राजा देख कर चकित रह गया—"यह शरीर और यह विरक्ति! इस सौन्दर्य का निर्माण भोग के लिए हुआ है, योग के लिए नहीं। क्या यह शारीरिक सम्पत्ति व्यर्थ गँवा देने के लिए है?" उस अनुपम सौन्दर्य को योग साधना में लगा हुआ देख कर राजा के हृदय में चोट-सी लगी।

वह मुनि के पास बैठ गया। धीरे-धीरे समाधि का समय पूरा हुआ। मुनि ने ध्यान तोड़ा और राजा की तरफ देखा।

राजा ने नम्रता पूर्वक कहा—"मुनिराज! यह भोग की अवस्था में योग कैसा? योग तो वृद्धावस्था की चीज है। आपकी आयु तो भोग भोगने की है। योग के लिए तो इस शारीरिक सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं थी। मुनिव्रत आपके लिए अस्वाभाविक सा मालूम पड़ता है। इसे वृद्धावस्था के लिए छोड़ दीजिए। मेरे साथ आइए और जीवन का आनन्द लूटिए।"

मुनि ने करुणापूर्ण शब्दों में कहा—"राजन्! मैं अनाथ हूँ। संसार में मेरा कोई सहारा नहीं है। इसी लिए मैं धर्म की शरण में आया हूँ।"

"क्या आप अनाथ हैं?" राजा ने विस्मय के साथ कहा। "यदि आप अनाथ हैं तो मैं आप का नाथ बनता हूँ। भला आप

सरीखे तेजस्वी एवं सुन्दर युवक का आत्मीय कौन न बन सकेगा? आप मेरे साथ चलिये। राजमहलों में रहिए। संसार में ऐसा कोई सुख नहीं, जो आपके लिये अप्राप्य रहेगा। सैकड़ों सेवक और सेविकाएँ आपकी सेवा में उपस्थित रहेंगे, आपकी आज्ञा को वरदान मानेंगे। सुन्दर युवतियाँ आपकी कृपा के लिए तरसेंगी।"

"राजन्! तुम स्वयं अनाथ हो, फिर मेरे नाथ कैसे बन सकते हो?" योगी ने सहज गम्भीरता के साथ उत्तर दिया।

श्रेणिक, मुनि के संक्षिप्त उत्तर को सुनकर चकित रह गया। "क्या यह साधु नहीं जानता कि मैं कौन हूँ? क्या यह मेरी शक्ति से अपरिचित है। शत्रु मेरे नाम से काँपते हैं। मेरे पास विशाल सेनाएँ हैं। बड़े-बड़े योद्धा हैं। हाथी हैं, घोड़े हैं। अक्षय कोश है। प्रभुत्व है। मैं विस्तृत साम्राज्य का स्वामी हूँ। कोई मेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। यह साधु मुझे अनाथ क्यों कह रहा है? मालूम पड़ता है, इसने मुझे पहिचाना नहीं।"

उसने प्रकट रूप से पूछा—"मुनिराज! सम्भवतया आप को यह ज्ञात नहीं है कि मैं कौन हूँ। मैं मगध का सम्राट् श्रेणिक हूँ। क्या आप मेरी शक्ति से परिचित नहीं हैं?"

"पता है, मगध सम्राट्! मैं आप को भली प्रकार जानता हूँ। किन्तु आप अपनी शक्ति की सीमा से स्वयं अपरिचित हैं। जिन वस्तुओं पर भरोसा करके आप गर्व कर रहे हैं वे संकट आने पर त्राण न दे सकेंगी। वे केवल मरीचिका हैं, वञ्चना हैं। भोले प्राणी उनके पीछे भागते-भागते अपना जीवन नष्ट कर लेते हैं।" यह कहकर मुनि ने अपना इतिवृत्त सुनाना प्रारम्भ किया।

मैं कौशाम्बी का निवासी हूँ। मेरे पिता वहाँ के बहुत बड़े सेठ थे। करोड़ों का व्यापार था। सैकड़ों नौकर चाकर थे। मेरी पत्नी अत्यन्त सुन्दरी, आज्ञा कारिणी तथा मधुरभाषिणी थी। भोग विलास के सभी साधन प्रस्तुत थे। माता, पिता, भाई बहिन आदि सभी आत्मीय मुझे हृदयसे प्यार करते थे।

एक दिन मेरी आँख दुखने लगी। औषधोपचार किया, किन्तु पीड़ा बढ़ती ही गई। मैं असह्य वेदना से छटपटाने लगा।

पिता वैद्यों को बुलाने में लगे हुए थे। रुपया पानी के समान बहाया जा रहा था। वे बार-बार कहते थे—मेरे पुत्र की पीड़ा दूर कर दो, चाहे मेरी सारी सम्पत्ति ले लो। दूर-दूर के अनुभवी चिकित्सक आए और चले गए, किन्तु पीड़ा कम न हुई।

माता मेरे सिर पर हाथ रखे बैठी रहती। उसकी आँखों में आँसू थे और मुख पर विवशता। सारी मनौतियाँ मना लीं। सारे सिद्ध फकीर तथा मन्त्रवादियों को बुलाया। जिसने, जो कहा, किया। किन्तु पीड़ा ज्यों की त्यों बनी रही। असहाय होकर मेरे सिरहाने बैठी रहने के अतिरिक्त उसके पास कोई चारा न रहा।

मेरी पत्नी मेरे चरणों में सिर रखकर आँसू बहाया करती। बहनें तथा भाई आर्द्र नयन होकर खड़े-खड़े देखते रहते। नौकर-चाकर दिन-रात दौड़-धूप करते। किन्तु कोई लाभ न हुआ।

मेरे मन में आया—"मानव जीवन कितना असहाय है! मनुष्य अपने सुख के लिए ऊँचे-ऊँचे महल खड़े करता है। अनेक प्रकार के रिश्ते जोड़ता है। समझता है—यह मेरा

पिता है, यह माता है, भाई हैं, बहिनें हैं, पत्नी है। समय आने पर मेरे काम आएँगे। किन्तु वे खड़े रह जाते हैं और उनके स्नेह का केन्द्र तड़पता रहता है। कोई भी उसे दुःख से उबारने में समर्थ नहीं हो पाता। न उसके दुःख को कोई बाँट सकता है। जिस पर आती है, उसी को भुगतना पड़ता है। धन, सम्पत्ति नौकर, चाकर, सेना, सम्बन्धी आदि सभी व्यर्थ हो जाते हैं। कोई उसे सुखी नहीं कर सकता।"

सोचते-सोचते ध्यान आया—"सुख का स्थान तो आत्मा है, बाह्य वस्तुएँ नहीं हैं। वास्तविक सुख प्राप्त करने के लिए आत्मा में रमण करने की आवश्यकता है। मुझे बाह्य वस्तुओं से विमुख होकर आत्मतत्त्व की खोज में लगना चाहिए।"

यह सोचते-सोचते मुझे नींद आ गई। पीड़ा भी कुछ कम प्रतीत होने लगी। प्रातः काल उठा तो पीड़ा मिट चुकी थी, किन्तु रात की बात मैं न भूल सका।

उसी दिन घर बार छोड़कर मैंने यह व्रत ले लिया। "राजन्! अब मैं सुखी हूँ।"
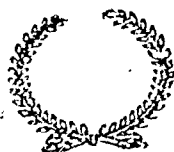
१३

महात्मा ने दासियों को टालने के लिए काग़ज़ का पुर्जा उठाया और जल्दी से कुछ घसीट दिया। दासियाँ उसे ही मन्त्र समझ कर खुश होती हुई चली गई।

मारवाड़ के ऐतिहासिक नगर मेड़ता में स्वामी लाभानन्द जी महाराज रहते थे। वे बहुत बड़े योगी थे। सदा अपने में मग्न रहते। न किसी से लाग, न लपेट। उनकी सिद्धि के विषय में लोग तरह-तरह की बातें किया करते। दूर-दूर तक चमत्कार की धूम मची हुई थी। किन्तु वस्तुस्थिति से बहुत थोड़े लोग परिचित थे।

सच्ची या झूठी किसी बात को सुनकर मान लेना जितना स्वाभाविक है, उतनी उसकी छान बीन नहीं। मान लेने में आनन्द आता है और छान-बीन शुरू करने में मन पर बोझ-

सा लद जाता है। मानव-हृदय सरलता चाहता है, विश्राम चाहता है। सुनी हुई बात में सन्देह करने पर मन उलझ जाता है, उसे सुलझाने में परिश्रम करना पड़ता है। विश्वास कर लेने से छुट्टी मिल जाती है। उधेड़-बुन नहीं रहती। एक बात और भी है। कोई नई बात दूसरे को सुनाने का आनन्द उसे ही प्राप्त हो सकता है जो विश्वास करना जानता है। इसीलिए उलझे मस्तिष्क के कुछ तार्किकों को छोड़कर लोग विश्वासशील होते हैं। कैसी ही बात हो। विश्वास करने वाले मिल ही जायँगे और फिर उसे फैलते देर नहीं लगती।

स्वामी लाभानन्दजी के विषय में लोग कई तरह की बातें किया करते। कोई उनके वचन में सिद्धि बताता, कोई उन्हें मन्त्रवादी कहता। किन्तु स्वामीजी को इनसे वास्ता न था। वे तो सच्चे योगी थे। आत्मचिन्तन में लीन रहते। चमत्कार को वे आत्मविकाश में बाधक मानते थे। आत्मतत्व के समान वे भी जनता के लिए रहस्य बने हुए थे।

मेड़ता नरेश के दो रानियाँ थीं। राजा स्वाभाविक रूप से छोटी रानी को अधिक चाहता था। उसने बड़ी रानी के पास आना-जाना भी बन्द कर दिया।

बड़ी रानी श्रद्धालु थी। पति की उपेक्षा उसे खटकने लगी। राजा को आकृष्ट करने के लिए कई प्रयत्न किये किन्तु सफलता न मिली।

अन्त में रानी का ध्यान स्वामी लाभानन्द की ओर गया। उसने अपनी करुण कथा का वर्णन करते हुए एक पत्र लिखा और स्वामीजी से प्रार्थना की—"कोई ऐसा मन्त्र दीजिये जिससे राजाजी मुझ पर प्रसन्न हो जावें।"

दासियाँ पत्र लेकर स्वामीजी के पास पहुँचीं। उन्होंने

रानी की ओर से मौखिक निवेदन भी किया और मन्त्र देने के लिए अत्यन्त आग्रह किया।

स्वामीजी अपने आध्यात्मिक भजन लिख रहे थे। दासियों की प्रार्थना पर स्तब्ध से रह गये। उन्होंने बहुत कहा—"मैं मन्त्र नहीं जानता।" किन्तु दासियाँ न मानीं। वे यही समझती रहीं कि स्वामीजी टाल रहे हैं। अन्त में उन्होंने टालने के लिए कुछ घसीट दिया। दासियाँ उसे ही मन्त्र समझ कर खुश होती हुई चली गईं।

रानी ने मन्त्र को पढ़ना अनुचित समझा। काग़ज़ को बिना खोले ही सीधा तावीज में मढ़वा लिया और अपनी बाँह पर बाँध लिया।

उसी दिन अचानक राजाजी बड़ी रानी के महल में चले आए और स्नेहपूर्ण बातें करने लगे। रानी ने यह सब मन्त्र का प्रभाव समझा। बातचीत के सिलसिले में उसने कहा—"यह मन्त्र का ही प्रभाव है कि आज दासी पर इतनी कृपा हो रही है। नहीं तो हुजूर कब पसीजने वाले थे?" राजा के पूछने पर रानी ने सारा हाल सुना दिया।

राजा को आश्चर्य हुआ। उसे यह आशा न थी कि लाभानन्द सरीखा आत्मनिष्ठ योगी औरतों को वशीकरण मन्त्र भी देता है। वह लाभानन्दजी के पास गया। स्वामीजी ने साफ़ इन्कार कर दिया—मैंने कोई मन्त्र नहीं दिया। अन्त में तावीज़ मंगवा कर खोला गया। काग़ज़ पर लिखा हुआ था—"राजा बड़ी रानी पर खुश रहे तो लाभानन्द को क्या और नाराज़ रहे तो लाभानन्द को क्या?"

यही स्वामी लाभानन्दजी आगे जाकर महायोगी 'वनानन्द' के नाम से प्रसिद्ध हुए।
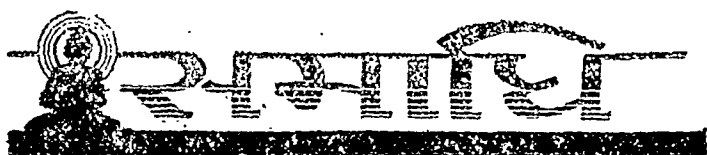
१४

माता देवकी के सन्तान तो कई हुईं किन्तु वे सब कंस की लोलुपता का शिकार बन गईं। किसी ने भविष्यवाणी की थी कि कंस देवकी की संतान द्वारा मारा जाएगा। परिणाम स्वरूप उसने वसुदेव तथा देवकी को कारागार में डाल दिया। उनके जो सन्तान होती, पैदा होते ही मार डालता। आयुष्यबल तथा वसुदेवजी के प्रयत्न से श्रीकृष्ण जी किसी प्रकार बच गए। किन्तु उनका भी पालन पोषण यशोदा ने किया। उनका सारा बचपन गोकुल में ही बीता। माता होने पर भी देवकी को मातृसुख प्राप्त नहीं हुआ। सन्तान को गोद में खिलाने की हविस पूरी न हो सकी।

श्रीकृष्णजी बड़े हुए। कंस को मारकर भूमण्डल के स्वामी

बने। उनके तेज और प्रताप के सामने सभी भूपाल झुक गए। किन्तु देवकी का हृदय प्रफुल्लित न हुआ। उसके मन में वही लालसा रह रह कर उठती और एक टीस सी पैदा कर देती थी।

देवी देवताओं की मनौती के बाद बड़ी उमर में फिर सन्तान का सुख मिला। देवकी की इच्छा पूर्ण हुई। वह अपनी गोद में पुत्र खिलाने लगी। राजमाता देवकी, श्री वसुदेवजी तथा श्रीकृष्ण सभी का उस बालक पर अत्यन्त स्नेह था। बालक का शरीर भी बहुत कोमल और सुन्दर था। नाम रखा गया, गजसुकुमार। शुक्लपक्ष में चन्द्रमा के समान बालक बढ़ने लगा।

एक बार बाईसवें तीर्थङ्कर भगवान् नेमिनाथ विचरते हुए द्वारिका नगरी में पधारे। राजा और रंक, धनी और निधन, वृद्ध और बालक, स्त्री और पुरुष सभी दर्शनार्थ गए। श्रीकृष्ण भी गजसुकुमार के साथ भगवान् के दर्शनार्थ रवाना हुए।

मार्ग में एक सुन्दर कन्या खेल रही थी। गजसुकुमार की दृष्टि उस पर जा पड़ी। कौन कह सकता है कि उसके मन में क्या विचार आया, किन्तु कृष्णजी ने यही समझा कि गजसुकुमार इस कन्या की ओर आकृष्ट हो गया। उसी समय उसके पिता सोमिल ब्राह्मण को बुलाया और दोनों का सम्बन्ध पक्का कर लिया। ब्राह्मण ने अपना अहोभाग्य माना। श्रीकृष्ण अपने दल बल के साथ भगवान् के समवसरण में पहुँचे।

बादल सभी जगह एक सा बरसता है किन्तु फल भिन्न भिन्न होते हैं। वही स्वातिनक्षत्र के समय सीप के मुँह में पड़कर मोती बन जाता है। द्राक्षावन में द्राक्षारस बन जाता

है और आम्रवन में आमरस। ऊसर में बरसने पर वह बेकार चला जाता है और उपजाऊ भूमि में विविध फूल और फलों का रूप धारण कर लेता है। भूमि और बीज के सम्बन्ध से उसकी विविध प्रकार की परिणतियाँ होती रहती हैं।

महात्माओं का उपदेश भी पात्रविशेष के अनुसार असर करता है। जन्म जन्मान्तर की साधना के द्वारा जिसकी आत्मा निर्मल होती है उस पर बहुत अधिक असर करता है, दूसरों पर कम और अभव्य पर कुछ भी असर नहीं करता।

गजसुकुमार ने व्याख्यान सुना। उसने अभी बाल्यावस्था को पार नहीं किया था। निर्मल हृदय पर उपदेशों का गहरा प्रभाव पड़ा। उसने उसी समय मुनिव्रत अङ्गीकार करने का निश्चय कर लिया।

घर आने पर उसने माता, बड़े भाई तथा दूसरे इष्टजनों के सामने अपने विचार प्रकट किए। सबने बहुत समझाया किन्तु वह अपने निश्चय पर अटल रहा।

गजसुकुमार ने भगवान् के पास दीक्षा ले ली और उसी समय योग साधन के लिए आज्ञा प्राप्त करके वन की ओर प्रस्थान कर दिया। निर्जन स्थान में पहुँचकर समाधि लगा ली और आत्मचिन्तन में लीन हो गए।

कार्यवश सोमिल ब्राह्मण उधर से निकला। पास आने पर देखा—यह क्या! यह तो मेरा जामाता है। क्या यह साधु हो गया? यदि यही बात थी तो विवाह क्यों किया! इसने मेरी कन्या का जीवन नष्ट कर दिया। इतना शीघ्र इतना परिवर्तन! इसने मेरे साथ विश्वासघात किया है।

सोमिल का क्रोध बढ़ता गया। प्रतिशोध की ज्वाला प्रज्व-

लित हो उठी। उसने उसी समय बदला लेने की ठानी। पास ही आग जल रही थी। उसने गजसुकुमार के सिर पर मिट्टी की पाल बनाई और उसमें खैर के जलते हुए अंगारे भर दिए। खोपड़ी खिचड़ी के समान पकने लगी।

गजसुकुमार के मन में किसी प्रकार का विकार न आया। उसने आग को हटाने के लिए भी कोई चेष्टा न की। वह उसी प्रकार समाधि में स्थिर खड़ा रहा।

थोड़ी देर में ब्रह्मरन्ध्र से प्राणवायु निकली। शरीर निर्जीव होकर गिर पड़ा।

१५

कपिल बड़ा विद्वान तथा त्यागी ब्राह्मण था। दिन रात शास्त्रपर्यालोचन में लीन रहता। इसी में मस्त रहता। न किसी बात की चिन्ता थी, न किसी व्यक्ति की गरज़।

एक दिन उसके मन में विवाह करने की इच्छा हुई। उसने एक ब्राह्मण कन्या से विवाह कर लिया।

भोग विलास के दिन शीघ्र ही समाप्त हो गए। गार्हस्थ्य का उत्तरदायित्व आ पड़ा। आर्थिक चिन्ताओं ने आ घेरा। घर में खाने पीने की कमी पड़ने लगी। ब्राह्मणी कमा कर लाने को कहती किन्तु कपिल को कुछ न सूझ रहा था। पत्नी की भर्त्सना तीर सी लगती किन्तु करता तो क्या करता ?

एक दिन सुना—राजा प्रतिष्ठित प्रतिदिन दो माशे सुवर्ण का दान करता है। उससे कुछ तो सहारा लगेगा। महापण्डित कपिल भिक्षुक बन कर पहर रात रहते ही चल पड़े।

नगरी बहुत दूर न थी। जब पहुँचे तो काफी अंधेरा था। राजमहल के द्वार बन्द थे। कपिल वहीं खड़े रहकर खुलने की प्रतीक्षा करने लगे।

इतने में सन्तरी आ पहुँचा। उसने चोर समझ कर गिरफ्तार कर लिया।

प्रातः होते ही कपिल को चोर के रूप में राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। उसके हाथों में हथकड़ियाँ थीं और पैरों में बेड़ियाँ। दोनों तरफ सशस्त्र सिपाही थे। दरबारी घृणापूर्ण दृष्टि से देख रहे थे। पण्डित जी स्वयं आत्मग्लानि से दबे जा रहे थे।

राजा ने उसकी ओर लक्ष्य करके कहा—तुम रात को कहाँ घूम रहे थे? क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि मेरे राज्य में चोर को कठोर दण्ड दिया जाता है?

कपिल ने काँपते हुए दीनता भरे शब्दों में अपनी कहानी सुनाई। आत्माभिमानी महापण्डित अत्यन्त दुखी हो रहा था।

राजा को विश्वास आ गया। महापण्डित की दशा देख कर उसे आश्चर्य हुआ और खेद भी। ब्राह्मण पर दया करके उसने कहा—

"पण्डितराज! मुझे तुम्हारी दशा देखकर बड़ा दुःख

हो रहा है। तुम्हारी जो इच्छा मांगो, मैं अवश्य पूर्ण करूँगा।"

कपिल ने सोचा—"मैं दो मासे सुवर्ण माँगने आया था किन्तु उससे कितने दिन काम चलेगा? कम से कम एक वर्ष तो चैन से कटे।" उसने सौ मुद्राएँ माँगने का विचार किया। फिर ख्याल आया—"सौ मुद्राओं से क्या होगा? न घर बनेगा, न सुख के साधन खरीदे जा सकेंगे।" उसने सुख के सभी साधनों से सुसज्जित प्रासाद मांगने की ठानी। किन्तु वहाँ भी वह न रुक सका। नौकर चाहिए। सवारी चाहिए। सब के लिए धन की आवश्यकता होगी। वह मन ही मन अपनी आवश्यकता को बढ़ाता गया। हजारों से लाखों पर पहुँचा और लाखों से करोड़ों पर। फिर भी शान्ति न हुई। कोई बात कही और लोगों ने न मानी तो कितना दुःख होगा। इसलिए प्रभुता चाहिए। मन में आया—राज्य मांग लूँ।

उसी समय अन्तरात्मा बोल उठी—"क्या राज्य मिलने पर सुखी हो जाओगे? क्या सेना के द्वारा तुम अपनी मृत्यु को जीत सकोगे? क्या तुम्हारा कोश तुम्हें शारीरिक व्याधियों से मुक्त रख सकेगा? क्या फिर तुम्हारी प्रियतमा तुमसे कभी अलग न होगी? जिसके मोह में फंस कर तुम यहाँ तक चले आए, क्या वह सदा तुम्हारी रहेंगी? कपिल! तुम भटक गए। सुख का आधार आत्मा है। यदि निर्द्वन्द्व सुख चाहिए तो आत्मा की शरण लो।"

कपिल को अपनी अवस्था का ध्यान आया। उसने सोचा-'मोह ने मुझे कितना गिरा दिया?'

राजा ने उसे चुप देखकर पूछा—"बोलो ! ब्राह्मण देवता बोलो ! क्या चाहते हो ?"

कपिल ने उत्तर दिया—"महाराज ! मुझे जो कुछ चाहिए था मिल गया।"

वह उन्हीं पैरों वापिस चला आया।

१६

देवदत्ता दासी होने पर थी अनिन्द्य सुन्दरी थी। उसके रूप की चर्चा दूर दूर तक फैली हुई थी। वाल्य काल से ही रानी प्रभावती के पास रही थी। इस कारण महाराज उदयन की भी विशेष कृपापात्र थी। जव उसने यौवन में पदार्पण किया, प्रभावती का देहान्त हो गया। उदयन शोक सागर में डूब गए। उनके लिए प्रभावती का स्नेह सुख, दुःख प्यार और कटुता के परीक्षणों से होता हुआ वासना की सीमा को पार कर चुका था। दोनों का प्रेम शरीर सीमा से वढ़ कर आत्मा तक पहुँच गया था। वे अव भव के साथी वन गए थे। वहाँ ग्रहण की अपेक्षा उत्सर्ग की प्रधानता थी। वहाँ आकर्पण किसी ध्येय का दूसरे का अंग न रह कर स्वयं ध्येय

बन गया था। इस प्रकार स्नेह का परिपाक होने पर जब साथी का वियोग होता है तो पूर्ति असम्भव हो जाती है।

प्रभावती का वियोग होने पर राजाने देवदत्ता को स्वतन्त्र कर दिया। वह परिवार का एक अंग मान ली गई थी। उसके लिए कर्त्तव्य कुछ न था, सुविधाएँ सभी थीं। राजा के लिए वह प्रभावती का एक अवशेष थी। वह उसे सदा प्रसन्न देखना चाहता था।

किन्तु देवदत्ता को इतने मात्र से सन्तोष न था। राजा के द्वारा दी गई सुविधाएँ उसके लिए एक साधारण सी बात बन गई थीं। सुखी व्यक्ति अपने भूतकाल को भूल जाता है और नए नए भविष्य की कल्पना किया करता है। इस के विपरीत दुखी को रह रह कर भूत याद आता है, उसका ध्यान भविष्य की ओर नहीं जाता। यदि दुखी भविष्य का ध्यान रखे तो उस का दुख कम हो जाय और सुखी भूत को याद रखे तो उन्मत्त न बने। एक दासी के लिए राजसी सुविधाएँ प्राप्त होना बहुत बड़ी बात थी किन्तु देवदत्ता अपने भूतकाल को भूल गई थी। वह तो हृदय की रानी बनना चाहती थी।

अवन्ती के राजा चण्डप्रद्योत ने देवदत्ता के रूप की प्रशंसा सुनी। जो व्यक्ति जिन बातोंका इच्छुक रहता है उसे उन का पता लगता ही जाता है। चण्डप्रद्योत रूप का पुजारी था। उस के दरबार में यह चर्चा प्रतिदिन हुआ करती थी। एक दिन किसी नवागन्तुक ने देवदत्ता का वर्णन किया। राजाने उसे देखने का निश्चय किया। चण्डप्रद्योत गुप्त रूप से वीतभय नगर पहुँचा। उसने देवदत्ता को देखा और देवदत्ता ने उसको। दोनों अनिल—वेग नाम के हाथी पर बैठे और अवंती पहुँच गए।

प्रातः होते ही देवदत्ता की खोज प्रारम्भ हुई। गुप्तचर दौड़ाए गए। चण्डप्रद्योत द्वारा किए गए अपहरण का पता लगा। उदयन को यह अपना अपमान प्रतीत हुआ। यदि चण्डप्रद्योत उदयन से देवदत्ता की मांग करता और देवदत्ता भी अपनी इच्छा प्रकट करती तो सम्भव था वे स्वयं उसे दान कर देते। किन्तु इस प्रकार अन्तःपुर से एक कन्या का चला जाना, उन्हें उचित प्रतीत न हुआ।

उदयन ने चण्डप्रद्योत पर चढ़ाई करदी। दोनों में भयङ्कर युद्ध हुआ। चण्डप्रद्योत पकड़ा गया। उदयन ने उसके ललाट पर दासोपति अंकित करवा दिया और अवन्ती को अपने सैनिकों के आधीन करके वीतभनगर की ओर प्रस्थान किया।

वर्षा के कारण मार्ग में कुछ दिन रुकना पड़ा। वहीं पर्युषण पर्व आगया। उदयन भगवान् महावीर का अनुयायी था। बन्दी होने पर भी चण्डप्रद्योत के प्रति उसका व्यवहार भद्र था। संवत्सरी के दिन उसने प्रतिक्रमण किया। अपने पापों की आलोचना की। संसार के समस्त प्राणियों से क्षमा प्रार्थना की। पृथ्वी से लेकर मनुष्य तक सभी प्राणियों की गिनती करने के बाद उसने कहा—

खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खिमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणइ॥

पाठ पढ़ते समय उसके मन में आया, मैं किनसे क्षमा मांगता हूँ। जिनका मैंने कुछ नहीं बिगाड़ा? वास्तविक क्षमा तो मुझे उससे मांगनी चाहिए जिसे राज्य छीनकर बन्दी बना लिया है। उससे क्षमाप्रार्थना किए बिना मेरी पर्व की आराधना अधूरी है।

वह चण्डप्रद्योत के पास गया। क्षमा मांगी, किन्तु चण्ड चुप रहा। उसके मन में अपमान की आग सुलग रही थी। उदयन उस के पैरों में गिर पड़ा। उसने कहा—'भाई मुझे क्षमा कर दो। यदि आप मुझे क्षमा न करेंगे तो मेरी आराधना अधूरी रह जाएगी।'

'क्षमा प्राप्त करने से पहले क्षमादान होना चाहिए।' चण्ड ने उत्तर दिया।

'हाँ क्षमादान। मैंने क्षमा किया।' उदयन ने शीघ्रता से कहा।

मेरा राज्य छीन कर और मुझे बंदी बना कर आपने मुझे दण्डित किया है। क्या दण्ड को ही क्षमा कहते हैं।"

"आप ठीक कहते हैं। मैं भ्रम में था। दण्ड और क्षमा में तो परस्पर विरोध है। मैंने आपको मुक्त किया। आप अपना राज्य सम्हालिए! अब आप मेरे समकक्ष एक राजा हैं, मेरे बन्धु हैं। अब तो क्षमा प्रदान कीजिए।"

"मेरे ललाट पर 'दासी पति' अंकित करके आपने मुझे सदा के लिए अपमानित बनाया है। इस दण्ड से उद्धार कैसे होगा?"

उदयन विचार में पड़ गया। ललाट पर अंकित अक्षरों को मिटाना अशक्य था।

उसने कहा—"बन्धुवर! मुझ से यह बहुत बड़ी भूल हुई। इसके लिए आप मुझे जो चाहें वह दण्ड दे सकते हैं। आवेश में आकर ऐसा कर बैठा। मुझे इसके लिए पश्चात्ताप हो रहा है। आप मेरे समस्त राज्य को ले लीजिए, किन्तु क्षमा कर दीजिए।"

उदयन अपराधी की भाँति क्षमा माँग रहा था और चण्ड प्रद्योत क्षमा देने वाला था। क्षमा करना या न करना, उसके हाथ की बात थी। धीरे धीरे उसका हृदय भी पिघला। आँखों से आँसू टपकने लगे। दोनों गले लगकर एक दूसरे से मिले। उदयन ने चण्ड से क्षमा माँगी और चण्डने उदयन से। उदयन ने चण्ड को क्षमाप्रदान की और चण्ड ने उदयन को।

१७
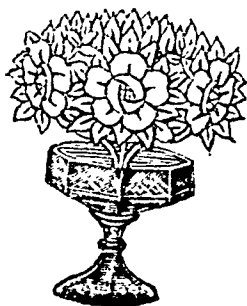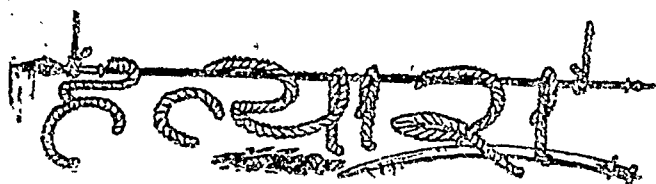
चिलाती धनावह सेठ की दासी थी। दासी का अर्थ है खरीदी हुई स्त्री। उन दिनों भेड़ और बकरियों के समान स्त्री पुरुष भी बिका करते थे। उन का भी बाजार लगता था। दाम देकर जो चाहे खरीद सकता था। खरीदने के बाद वे मालिक की सम्पत्ति बन जाते थे। उस का उन पर पूर्ण अधिकार हो जाता था। मनुष्य के पास पैसा है, वह उसे जहाँ चाहे खर्च कर सकता है। वह उसे कूए में फेंक सकता है, भोगविलास में उड़ा सकता है और सार्वजनिक हित में भी लगा सकता है। इस में समाज या राष्ट्र को बोलने का कोई अधिकार नहीं है। दासी भी एक सम्पत्ति है। खरीदने वाले का उस पर पूर्ण अधिकार है। उस के मन पर, उसके वचन पर और

उसके तन पर। यदि उस का मन गुलाम नहीं बनना चाहता तो यह व्यापार के तत्कालीन नियमों के अनुसार धोखा है, अपराध है। मालिक चाहे तो भरपेट भोजन दे और चाहे तो भूखा रखे। यह उस की मरजी है। स्वयं दास या दासी को इस विषय में बोलने का अधिकार नहीं है। किसी के हृदय और शरीर का मूल्य चाँदी के टुकड़ों में हो सकता है, यह निर्णय कौन करे? जब मनुष्य ने पैसे को सार्वभौम सत्ता दे दी तो उसके विरुद्ध बोलने वाला दण्डनीय है।

चिलाती किशोर अवस्था में ही खरीद ली गई थी। सेठ जी को उस पर विशेष कृपा थी। इस कृपा के बदले वे क्या चाहते थे यह प्रश्न ही खड़ा नहीं होता, क्योंकि उन का उस पर पूर्ण अधिकार था। किसी वस्तु को खरीद लेने के बाद उस में शेष कुछ नहीं रहता, जिसे प्राप्त करने के लिए और कुछ देना पड़े। फिर भी सेठ जी का कृपादान उनकी उदारता ही कहनी चाहिए।

चिलाती के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। बालक सुन्दर था तथा होनहार प्रतीत होता था। किन्तु किसी ने यह जिज्ञासा नहीं प्रकट की कि इसका पिता कौन है। दासियों की सन्तान के विषय में ऐसा कुतूहल किसी को न होता था। गाय और भैंस की सन्तान के लिए यह कौन जानना चाहता है कि इस का पिता कौन है? अभी कुछ दिन हुए सेठ कनकदास के घर पुत्र जन्म हुआ था। एक महीने तक उत्सव चलता रहा। ढोल बजते रहे। बधाइयों का तांता लगा रहा। ऐसा प्रतीत होता था जैसे सारे नगर को अमूल्य निधि प्राप्त हुई हो। किन्तु चिलाती के पुत्र की बात तभी होती जब उसका कहना आवश्यक हो जाता। वैसे उस बात को सुनने और सुनाने में

कोई आकर्षण नहीं था। घर के एक कोने में उसने पुत्र को जन्म दिया और पूरे घर वाले भी उसे शायद ही जान पाए हों ! एक बालक के जन्म पर सामूहिक हर्ष मनाया गया और दूसरे का जन्म होने की अपेक्षा, न होना अधिक उचित समझा गया।

बालक का नाम ? नाम तो उसका होता है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व हो। सेठजी की गोशाला में सैकड़ों गौएं बच्चे देती ही रहती थीं किन्तु किसी नाम रखने की आवश्यकता न पड़ी थी। लोग इतना ही जानते थे कि वह चिलाती का बेटा है। इस लिए उसे चिलाती पुत्र कहने लगे। गली के बालक तथा अन्य लोग उसे चिलातीपुत्र कह कर पुकारते तो अन्दर ही अन्दर आनन्द का अनुभव करते। उन की अस्मिता का पोषण मिलता। वे मन ही मन कहते—हम कुलीन हैं और यह दासी का बेटा है।

सेठजी के एक पुत्री थी। वह चिलातीपुत्र की समवयस्क थी। नाम था सुषमा। चिलाती पुत्र सोचता—गली के सभी बालक सुन्दर सुन्दर नामों से पुकारे जाते हैं, मेरा कोई नाम नहीं है। जिस घर में सुषमा उत्पन्न हुई है वहीं मैं भी पैदा हुआ हूँ। केवल इतना ही तो अन्तर है कि मेरी माता दूसरी है और उस की दूसरी। मैं सुषमा से किस बात में कम हूँ फिर भी मेरा घर में कोई अधिकार नहीं है। सुषमा मालकिन है और मैं दया का पात्र हूँ। बालक को इन प्रश्नों का उत्तर देने वाला कोई न था। जब वह किसी से पूछता तो एक ही उत्तर मिलता—तू दासी का पुत्र है।

जब वह चार वर्ष का हुआ, माँ का देहान्त हो गया। प्यार और अधिकार का एक मात्र सहारा टूट गया। माँ की गोद

पर भी उपेक्षित क्यों है ? उसका सरल हृदय उस भेद व्यवहार का कारण जानना चाहता था, किन्तु कहीं से संतोषजनक समाधान न मिलता।

जब हम देखते हैं कि किसी व्यक्ति पर अन्याय हो रहा है तो उसके प्रति स्वाभाविक सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। मानव हृदय वैषम्य नहीं देखना चाहता। वह पर्वतों को गिराकर गर्तों को समतल बना देना चाहता है। किसी को उन्नत देखकर उसे ईर्ष्या होती है और तब तक शान्ति प्राप्त नहीं होती जब तक वह स्वयं उतना ऊँचा नहीं उठ जाता या दूसरे को गिराकर अपने बराबर नहीं बना लेता। इसी प्रकार किसी पीड़ित को देखकर मनमें अशान्ति उत्पन्न होती है। उसे दया, सहानुभूति या किसी शब्द से कहिए। धर्माचार्यों ने धनवान् के मन में निर्धन के प्रति उत्पन्न होने वाले भावों को धर्म कह दिया और निर्धन के मन में पैदा होने वाले भावों को पाप। यह उनकी इच्छा है।

सुषमा चिलाती पुत्र के साथ खेला करती। उसका मन रखने के लिए सेठ और सेठानी कोई आपत्ति न करते। कई बार वह लड़ती, झगड़ती, किन्तु डाँट डपट चिलाती पुत्र पर ही पड़ती। सुषमा जानकर शरारत करती किन्तु दोषी चिलाती पुत्र को ठहराया जाता। इससे वह तो मन ही मन कुढ़कर रह जाता किन्तु सुषमा को भी प्रसन्नता न होती। कई बार बालक जानकर तूफान करता है और चाहता है उसे कोई रोके। सुषमा की यह इच्छा अपूर्ण ही रह जाती। वह मन ही मन चिलाती पुत्र के प्रति होने वाले अन्यायपूर्ण व्यवहार के लिए माता पिता को दोषी ठहराती। हृदय सहानुभूति से भर आता। धीरे धीरे सहानुभूति स्नेह के

रूप में परिणत हो गई। वह उसके खान पान और सुख सुविधाओं का ध्यान रखने लगी। अपने खाने की चीजें उसके लिए बचाकर रखती। उसके साथ बातें करने में सुख का अनुभव करती। वह चला जाता तो मन न लगता। देर से आता तो पूछताछ करती, डाँटती, रूठ जाती। वह उस पर अपना अधिकार मानने लगी थी किन्तु यह पूँजी का अधिकार न था। मानने की इच्छा न होने पर भी चिलाती पुत्र उसे मान ही जाता। उसे मानने से कुछ सुख प्रतीत होता था। सुषमा के साथ बातचीत करने में उसे भी रस आता था किन्तु सहसा घर का वातावरण सामने आ जाता और मन उचाट हो जाता। फिर क्षण भर भी घर में ठहरना कठिन हो जाता। बाहर के साथियों से मन ऊब जाता तो फिर सुषमा याद आती और वह खिंचा चला आता।

क्रमशः दोनों ने किशोरावस्था में पदार्पण किया। सेठ जी अब नहीं चाहते थे कि सुषमा चिलातीपुत्र के साथ मेल-जोल बढ़ावे। जब कभी दोनों को वार्तालाप करते देखते तो चिलातीपुत्र को कहते—'तुम दासी के पुत्र हो, सुषमा तुम्हारे मालिक की पुत्री है। तुम दोनों का एक साथ रहना ठीक नहीं है।' सुषमा को भी समझाते। किन्तु उन दोनों की समझ में न आता—"क्यों ठीक नहीं है।"

एक दिन चिलाती पुत्र को अपने साथियों के साथ खेलते देर हो गई। जोर से भूख लगने पर वह घर की ओर चला। रसोई बन्द हो चुकी थी किन्तु सुषमा ने उसके लिये कुछ रख लिया था। उसने पहले तो नाराजगी प्रकट की, फिर भोजन लाने अन्दर चली गई।

इतने में सेठजी आ गए। देखा—सुषमा भोजन लेकर आ

रही है। उन्हें यह झुकाव अच्छा न लगा। क्रोध में आकर डाँटना शुरू किया—"दासी के पुत्र होकर तुम मेरी सुषमा को अपनी ओर खींच रहे हो। मैं तुम्हें कितनी बार अलग रहने के लिए कह चुका हूँ। मेरे घर में रहकर मेरी ही पुत्री के साथ यह व्यवहार? मैं तुम्हारा मुँह नहीं देखना चाहता। मेरे घर से निकल जाओ। आज तक बालक समझ कर क्षमा करता रहा, अब तुम्हारे लिए यहाँ स्थान नहीं है।"

चिलातीपुत्र को सेठ की बात चुभ गई। वह उसी समय उठ खड़ा हुआ। सुषमा ने बहुत आग्रह किया किन्तु वह चला ही गया और फिर न लौटा।

उस दिन के बाद चिलातीपुत्र नगर में भी दिखाई नहीं दिया। उसका कोई साथी मिल जाता तो सुषमा पूछती। कोई कहता—वह वैभारगिरि की गुफाओं में रहने लगा है। कोई कहता—वह डाकू हो गया है और कोई कहता—मर गया है।

सुषमा के विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। पाटलिपुत्र के सार्थवाह का पुत्र कनकरुचि अत्यन्त व्यापार कुशल था। उसने पिता का सारा व्यवसाय सम्भाल लिया था। वर्षा ऋतु में तालाब के समान उसके भण्डार आप्लावित हो रहे थे। धनावह ने उसे ही अपना जामाता चुना था। दोनों पक्ष विशाल तैयारियाँ कर रहे थे।

किन्तु सुषमा का मन अशान्त था। वह चिलातीपुत्र को खोजना चाहती थी। विवाह की तिथि जैसे-जैसे समीप आ रही थी उसकी अशान्ति बढ़ रही थी।

धनावह ने स्वागत की तैयारियाँ कीं। तोरण द्वार सजाए। दहेज में देने के लिए चित्र-विचित्र वस्तुएँ एकत्रित

कीं। नए-नए आभूषण बनवाए। स्त्री और पुरुषों की टोलियाँ देखने के लिए आने लगीं। सभी सेठ की सम्पत्ति देखकर आश्चर्य में पड़ जाते किन्तु सुषमा अब भी बेचैन थी।

बरात आई और जनवासे में ठहर गई। विवाह का मुहूर्त सूर्यास्त के पश्चात् था।

गोधूलि के समय नगर में एकाएक हाहाकार मच गया। घरों के दरवाजे बन्द होने लगे। चारों ओर से 'भागो-भागो' की आवाज़ आने लगी। पलक मारते ही धनावह का घर डाकुओं से घिर गया। कुछ अन्दर घुस गए और कुछ बाहर पहरा देने लगे। उनके भयङ्कर अस्त्र-शस्त्रों को देखकर सबके सब सहम गए। जो जहाँ था वहीं रह गया।

सरदार ने कहा—"सबके सब जहाँ खड़े हो वहीं बैठ जाओ। जो उठेगा, मार दिया जाएगा।" आज्ञा मिलते ही सबके सब बैठ गए। सरदार धनुष पर तीर चढ़ाए इधर-उधर घूमने लगा। साथी धन की गठरियाँ बाँधने लगे किन्तु सरदार की आँखें कुछ और खोज रही थीं। उसकी दृष्टि एक कोने में गई। वहाँ विवाह के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित सुषमा सिमटी हुई बैठी थी। सरदार ने जाकर कहा—"सुषमा! मैं तुम्हें लेने आया हूँ। चलो, मेरे साथ चलो।"

सुषमा भय से काँप रही थी। चिलातीपुत्र की आवाज़ सुनकर मन में विचित्र से भाव उठने लगे। किन्तु वहाँ अधिक विचार करने के लिए समय नहीं था।

साथियों ने धन की गठरियाँ बाँधकर सिर पर रखीं और जंगल की राह ली। चिलाती सुषमा को लिए पीछे-पीछे चल रहा था। हाथ में नग्न खड्ग था। उसके भीषण रूप को देखकर किसी को सिर उठाने का साहस न होता था।

रही है। उन्हें यह झुकाव अच्छा न लगा। क्रोध में आकर डाँटना शुरू किया—"दासी के पुत्र होकर तुम मेरी सुषमा को अपनी ओर खींच रहे हो। मैं तुम्हें कितनी बार अलग रहने के लिए कह चुका हूँ। मेरे घर में रहकर मेरी ही पुत्री के साथ यह व्यवहार? मैं तुम्हारा मुँह नहीं देखना चाहता। मेरे घर से निकल जाओ। आज तक बालक समझ कर क्षमा करता रहा, अब तुम्हारे लिए यहाँ स्थान नहीं है।"

चिलातीपुत्र को सेठ की बात चुभ गई। वह उसी समय उठ खड़ा हुआ। सुषमा ने बहुत आग्रह किया किन्तु वह चला ही गया और फिर न लौटा।

उस दिन के बाद चिलातीपुत्र नगर में भी दिखाई नहीं दिया। उसका कोई साथी मिल जाता तो सुषमा पूछती। कोई कहता—वह वैभारगिरि की गुफाओं में रहने लगा है। कोई कहता—वह डाकू हो गया है और कोई कहता—मर गया है।

सुषमा के विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। पाटलिपुत्र के सार्थवाह का पुत्र कनकरुचि अत्यन्त व्यापार कुशल था। उसने पिता का सारा व्यवसाय सम्भाल लिया था। वर्षा ऋतु में तालाब के समान उसके भण्डार आप्लावित हो रहे थे। धनावह ने उसे ही अपना जामाता चुना था। दोनों पक्ष विशाल तैयारियाँ कर रहे थे।

किन्तु सुषमा का मन अशान्त था। वह चिलातीपुत्र को खोजना चाहती थी। विवाह की तिथि जैसे-जैसे समीप आ रही थी उसकी अशान्ति बढ़ रही थी।

धनावह ने स्वागत की तैयारियाँ कीं। तोरण द्वार सजाए। दहेज में देने के लिए चित्र-विचित्र वस्तुएँ एकत्रित

कीं। नए-नए आभूषण बनवाए। स्त्री और पुरुषों की टोलियाँ देखने के लिए आने लगीं। सभी सेठ की सम्पत्ति देखकर आश्चर्य में पड़ जाते किन्तु सुषमा अब भी बेचैन थी।

बरात आई और जनवासे में ठहर गई। विवाह का मुहूर्त सूर्यास्त के पश्चात् था।

गोधूलि के समय नगर में एकाएक हाहाकार मच गया। घरों के दरवाजे बन्द होने लगे। चारों ओर से 'भागो-भागो' की आवाज़ आने लगी। पलक मारते ही धनावह का घर डाकुओं से घिर गया। कुछ अन्दर घुस गए और कुछ बाहर पहरा देने लगे। उनके भयङ्कर अस्त्र-शस्त्रों को देखकर सबके सब सहम गए। जो जहाँ था वहीं रह गया।

सरदार ने कहा—"सबके सब जहाँ खड़े हो वहीं बैठ जाओ। जो उठेगा, मार दिया जाएगा।" आज्ञा मिलते ही सबके सब बैठ गए। सरदार धनुष पर तीर चढ़ाए इधर-उधर घूमने लगा। साथी धन की गठरियाँ बाँधने लगे किन्तु सरदार की आँखें कुछ और खोज रही थीं। उसकी दृष्टि एक कोने में गई। वहाँ विवाह के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित सुषमा सिमटी हुई बैठी थी। सरदार ने जाकर कहा—"सुषमा! मैं तुम्हें लेने आया हूँ। चलो, मेरे साथ चलो।"

सुषमा भय से काँप रही थी। चिलातीपुत्र की आवाज़ सुनकर मन में विचित्र से भाव उठने लगे। किन्तु वहाँ अधिक विचार करने के लिए समय नहीं था।

साथियों ने धन की गठरियाँ बाँधकर सिर पर रखीं और जंगल की राह ली। चिलाती सुषमा को लिए पीछे-पीछे चल रहा था। हाथ में नग्न खड्ग था। उसके भीषण रूप को देखकर किसी को सिर उठाने का साहस न होता था।

डाकुओं के चले जाने पर धनावह बाहर निकला। उसने चिल्लाना प्रारम्भ किया। थाने में सूचना दी। नगर का कोटपाल सिपाहियों की टुकड़ी के साथ आ पहुँचा। सेठ जी को धन की इतनी चिन्ता न थी जितनी सुषमा की।

पीछा करते-करते दिन निकल आया। आगे-आगे सुषमा को लिए हुए चिलातीपुत्र भाग रहा था और पीछे-पीछे धनावह सेठ तथा पोलिस। सभी थक कर चूर हो रहे थे। धीरे-धीरे सूर्य का ताप प्रचण्ड हो गया। प्यास के मारे गला सूखने लगा। सुषमा के पैर लड़खड़ाए। कुछ दूर चलने पर पैर में एक काँटा लगा और वह मूर्छित होकर गिर पड़ी। चिलातीपुत्र ने उसे कन्धे पर उठा लिया। किन्तु इस तरह उठाकर कब तक भागता। कुछ दूरी पर पानी का एक झरना दिखाई दिया। उसने स्वयं पानी पिया और सुषमा के मुँह पर छींटे लगाए किन्तु उसे होश न आया। चिलातीपुत्र ने बहुत प्रयत्न किया किन्तु सुषमा होश में न आई। इस अवस्था में उठकर भागना अशक्य था। उसे अपने प्राणों का भय नहीं था किन्तु वह सुषमा को नहीं जाने देना चाहता था। सशस्त्र पोलिस के साथ धनावह बढ़ा आ रहा था। सुषमा और चिलातीपुत्र को ठहरे देखकर उनके पैरों में दुगुना बल आ गया था।

निराशा क्रोध को जन्म देती है। मनुष्य जब किसी वस्तु को स्वयं नहीं प्राप्त कर सकता तो चाहता है वह दूसरे को भी न मिले। उसने देखा, अब सुषमा उसके पास नहीं रह सकती। फिर क्रोध आया—"सुषमा मेरी है, उसे कौन छीन सकता है? यह मेरी है, दूसरे की नहीं हो सकेगी।" उसने खड्ग उठाया और एक ही प्रहार से सुषमा का सिर शरीर

से अलग कर दिया। खून टपकाते हुए छिन्न मुण्ड को हाथ में उठाकर वह आगे चल पड़ा।

धनावह वहाँ पहुँचा, जहाँ सुषमा का शरीर पड़ा था। अब भी उस पर विवाह के वस्त्र तथा आभूषण चमक रहे थे। किन्तु वे भय उत्पन्न कर रहे थे। वह पहले से ही थका हुआ था। पुत्री के वियोग ने विह्वल बना दिया। अशक्त होकर वहीं गिर पड़ा। आगे बढ़ने की सामर्थ्य न रही।

चिलातीपुत्र सिर को हाथ में लिए दौड़ा जा रहा था। उसके हृदय में भयङ्कर तूफान मचा हुआ था। आँखों से आग बरस रही थीं। उसे मानवमात्र से घृणा हो गई थी। वह सारी दुनियाँ को भस्म कर डालना चाहता था। उसका रूप देखकर जंगली पशु भयभीत होकर भाग खड़े होते। भील और किरात उसे पिशाच समझ कर डर जाते। उसने अपनी ममता और प्यार के अंकुर को स्वयं मसल डाला था। अब समस्त विश्व उसके लिए प्रलय था, हाहाकार था, भयङ्कर तूफान था, प्रचण्ड ज्वालामुखी था, धधकती चिता था। वह ज्वाला बन गया था, जहाँ जलना और जलाना एक ही क्रिया है। उसे चारों ओर आग ही आग दिखाई देती थी। सामने आने का किसी को साहस न होता था। उसे देखकर कोई छिप जाता, कोई भाग जाता। कोई भय से मूर्छित हो जाता।

सुषमा के सिर को हाथ में लिए वह विक्षिप्त अवस्था में भटक रहा था। उसे यह भान नहीं था कि मैं कहाँ जा रहा हूँ? जहाँ बैठने का प्रयत्न करता वहीं उसे दासीपुत्र, डाकू, हत्यारा, ये शब्द सुनाई देते। किन्तु वह अपने को अपराधी मानने के लिए तैयार न था। वह उत्तर देता—तुम डाकू हो, तुम सभी हत्यारे हो।

वास्तव में देखा जाय तो अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए दूसरे के अधिकारों को कौन नहीं छीनता ? अन्तर केवल इतना ही है कि कुछ लोग शासन, व्यापार आदि का नाम लेकर अपनी डकैती पर परदा डाल देते हैं। उनकी अपनी बनाई हुई व्यवस्था में खलल डालकर जब कोई कुछ प्राप्त करना चाहता है तो डाकू कहा जाता है। उनकी व्यवस्था में रहते हुए वैसा करने पर कुशल व्यापारी या कुशल शासक कहा जाता है। किसी को खरीदना, गुलाम बनाना, वैयक्तिक तथा सामाजिक अधिकारों से वञ्चित करना, डाका ही तो है ! चिलातीपुत्र अपने सामाजिक तथा वैयक्तिक अधिकारों को लुटा चुका था। यदि हृदय की व्यवस्था मानी जाय तो सुषमा उसकी थी। किन्तु राजनीति तथा समाज के नियम यह भी मानने के लिए तैयार न थे। जब हम अपने घर को लुटेरों से नहीं बचा पाते तो उसे आग लगा देते हैं। अर्थशास्त्र में उसे घर फूँक नीति कहा जाता है किन्तु चिलातीपुत्र के कार्य को समाज हमेशा जघन्य पाप ही कहता रहेगा।

अचानक वह ठिठक गया। सामने एक ध्यानस्थ योगी को देखा। उसके ललाट पर दिव्य तेज था। मुख पर शान्ति तथा प्रेम विराज रहे थे। दृष्टि नाक पर जमी थी। चिलातीपुत्र को उसमें कुछ आत्मीयता सी दिखाई दी। मन में आया—यह व्यक्ति भी समाज के द्वन्द्वों से त्रस्त होकर यहाँ आया है। फिर भी इसके मन में शान्ति है मेरे मन में आग धधक रही है। इसे मार्ग मिल गया है और मैं पथभ्रष्ट हूं। चिलातीपुत्र के पैर अपने आप उस ओर बढ़ चले। महात्मा के पास जाकर वह चुपचाप बैठ गया।

थोड़ी देर में योगी ने आँखें खोलीं और प्रेमभरी दृष्टि से

उसकी ओर देखा। चिलातीपुत्र के हाथ में अब भी सुषमा का कटा हुआ सिर था। दूसरे हाथ में खड्ग था। शरीर पर रक्त के छींटे पड़े हुए थे किन्तु फिर भी मुख पर वह भयङ्करता न रही थी। योगी की स्नेहपूर्ण दृष्टि ने उसे सौम्य बना दिया था। वह कर्तव्यविमूढ़ सा होकर उन्हें देखने लगा। योगी ने मुस्कुराते हुए कहा—"भाई! तुम्हारा स्वागत है।"

चिलातीपुत्र ने आश्चर्य में पड़कर कहा—"भगवन्! आप किसका स्वागत कर रहे हैं। मैं हत्यारा हूँ, डाकू हूँ, दासीपुत्र हूँ। क्या मुझे भाई कहने से आप अपवित्र न हो जाएँगे?"

योगी ने देखा—चिलातीपुत्र की आत्मा तिरस्कार पाकर भयंकर हो उठी है। शान्त करने के लिए उसे निजगौरव का ज्ञान कराना चाहिए।

योगी ने कहा—"मैंने तो तुम्हें भाई ही कहा है। इसी शरीर द्वारा तुम मेरे और समस्त संसार के बन्दनीय बन सकते हो।"

"क्या आप मुझे भुलावा दे रहे हैं? मेरे सरीखा पापी भी कहीं ऊँचा उठ सकता है!" चिलाती ने अधीर होकर पूछा।

"भाई! मैं सर्वथा सत्य कह रहा हूँ। पापी कहकर अपनी आत्मा का अपमान मत करो।"

"भगवन्! मैंने दुनियाँ को लूटा। जो मेरे लिए जान देती थी, मेरे स्नेह का एकमात्र केन्द्र थी उसके भी प्राण ले लिए। यह सिर उसी का है। मैंने स्वयं काटा है। मैं कितना विश्वासघाती हूँ। हत्यारा हूँ।" चिलातीपुत्र अपने जहरीले घावों को खोल खोल कर महात्मा के सामने रख रहा था और अनुभव कर रहा था कि उसकी वेदना कम हो रही है।

वास्तव में देखा जाय तो अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए दूसरे के अधिकारों को कौन नहीं छीनता ? अन्तर केवल इतना ही है कि कुछ लोग शासन, व्यापार आदि का नाम लेकर अपनी डकैती पर परदा डाल देते हैं। उनकी अपनी बनाई हुई व्यवस्था में खलल डालकर जब कोई कुछ प्राप्त करना चाहता है तो डाकू कहा जाता है। उनकी व्यवस्था में रहते हुए वैसा करने पर कुशल व्यापारी या कुशल शासक कहा जाता है। किसी को खरीदना, गुलाम बनाना, वैयक्तिक तथा सामाजिक अधिकारों से वञ्चित करना, डाका ही तो है! चिलातीपुत्र अपने सामाजिक तथा वैयक्तिक अधिकारों को लुटा चुका था। यदि हृदय की व्यवस्था मानी जाय तो सुषमा उसकी थी। किन्तु राजनीति तथा समाज के नियम यह भी मानने के लिए तैयार न थे। जब हम अपने घर को लुटेरों से नहीं बचा पाते तो उसे आग लगा देते हैं। अर्थशास्त्र में उसे घर फूँक नीति कहा जाता है किन्तु चिलातीपुत्र के कार्य को समाज हमेशा जघन्य पाप ही कहता रहेगा।

अचानक वह ठिठक गया। सामने एक ध्यानस्थ योगी को देखा। उसके ललाट पर दिव्य तेज था। मुख पर शान्ति तथा प्रेम विराज रहे थे। दृष्टि नाक पर जमी थी। चिलातीपुत्र को उसमें कुछ आत्मीयता सी दिखाई दी। मन में आया—यह व्यक्ति भी समाज के द्वन्द्वों से त्रस्त होकर यहाँ आया है। फिर भी इसके मन में शान्ति है मेरे मन में आग धधक रही है। इसे मार्ग मिल गया है और मैं पथभ्रष्ट हूं। चिलातीपुत्र के पैर अपने आप उस ओर बढ़ चले। महात्मा के पास जाकर वह चुपचाप बैठ गया।

थोड़ी देर में योगी ने आँखें खोलीं और प्रेमभरी दृष्टि से

उसकी ओर देखा। चिलातीपुत्र के हाथ में अब भी सुषमा का कटा हुआ सिर था। दूसरे हाथ में खड्ग था। शरीर पर रक्त के छींटे पड़े हुए थे किन्तु फिर भी मुख पर वह भयङ्करता न रही थी। योगी की स्नेहपूर्ण दृष्टि ने उसे सौम्य बना दिया था। वह कर्तव्यविमूढ़ सा होकर उन्हें देखने लगा। योगी ने मुस्कुराते हुए कहा—"भाई! तुम्हारा स्वागत है।"

चिलातीपुत्र ने आश्चर्य में पड़कर कहा—"भगवन्! आप किसका स्वागत कर रहे हैं। मैं हत्यारा हूँ, डाकू हूँ, दासीपुत्र हूँ। क्या मुझे भाई कहने से आप अपवित्र न हो जाएँगे?"

योगी ने देखा—चिलातीपुत्र की आत्मा तिरस्कार पाकर भयंकर हो उठी है। शान्त करने के लिए उसे निजगौरव का ज्ञान कराना चाहिए।

योगी ने कहा—"मैंने तो तुम्हें भाई ही कहा है। इसी शरीर द्वारा तुम मेरे और समस्त संसार के वन्दनीय बन सकते हो।"

"क्या आप मुझे भुलावा दे रहे हैं? मेरे सरीखा पापी भी कहीं ऊँचा उठ सकता है!" चिलाती ने अधीर होकर पूछा।

"भाई! मैं सर्वथा सत्य कह रहा हूँ। पापी कहकर अपनी आत्मा का अपमान मत करो।"

"भगवन्! मैंने दुनियाँ को लूटा। जो मेरे लिए जान देती थी, मेरे स्नेह का एकमात्र केन्द्र थी उसके भी प्राण ले लिए। यह सिर उसी का है। मैंने स्वयं काटा है। मैं कितना विश्वासघाती हूँ। हत्यारा हूँ।" चिलातीपुत्र अपने जहरीले घावों को खोल खोल कर महात्मा के सामने रख रहा था और अनुभव कर रहा था कि उसकी वेदना कम हो रही है।

महात्मा ने उत्तर दिया—"संसार में ऐसा कोई पाप नहीं है जो न धुल सकता हो।"

चिलाती पुत्र महात्मा के चरणों में गिर पड़ा। उन्होंने उसे अहिंसा और क्षमा का उपदेश दिया। उन्होंने कहा—"भाई! आज से संसार के समस्त प्राणियों को अपना मित्र मानो। किसी के प्रति द्वेष भावना मत रखो। किसी से भय मत करो। फिर देखो! संसार के समस्त प्राणी तुम्हारे मित्र बन जाएँगे। धनावह को भी अपना मित्र मानो। यह सत्य अपने हृदय में रख लो कि न कोई किसी का शत्रु होता है और न कोई किसी का मित्र। हमारी भावना ही शत्रु या मित्र बनाती है। तुम चाहो तो समस्त विश्व को अपना मित्र बना सकते हो।"

लोगों ने एक दिन सुना—"आज धनावह सेठ अपने भाई बन्धुओं के साथ महात्मा चिलातीपुत्र के दर्शन करने जा रहे हैं।"

'शाक्य कन्याएँ सस्ती नहीं हैं।' क्या मुझे वर लेने से वह सस्ती हो जाती? मैं मगध का सेनापति हूँ। राजगृही का युवराज हूँ। यदि इनमें मिथ्याभिमान न होता तो मेरे प्रस्ताव को वरदान मानतीं। मैं इन शाक्यों का अभिमान चूर करूँगा। इन्हें बता दूँगा, किस प्रकार शाक्य कन्याएँ भटक रही हैं और उन्हें स्वीकार करने वाला कोई नहीं है।"

अचानक रथ के पहियों की घर्घराहट हुई और वनमयूर केकारव करने लगे। प्रत्येक गर्जन को घनगर्जन समझ कर नाच उठने वाला मयूर का सरल हृदय यह नहीं जानता कि विनाश की गर्जन भी ऐसी ही होती है।

कुमार की विचार शृङ्खला टूटी। एक अश्वारोही ने आगे आकर नम्रता-पूर्वक सेनापति का रत्नजटित अस्त्र उसे अर्पित किया।

"क्या अस्त्र इतना शीघ्र मिल गया?" कुमार ने अश्वारोही से पूछा।

"हाँ, स्वामिन्! किसी ने इसे छूआ तक नहीं। मुझे कहा—तुम अपने ही हाथ से उठा लो।"

"नानाजी क्या कर रहे थे?" कुमार ने स्नेहार्द्र होकर अपने नव्वे वर्ष के वृद्ध मातामह, शाक्य गणनेता महानामन के समाचार पूछे। "क्या मुझे याद कर रहे थे?"

सैनिक चुप रहा।

"कुछ नहीं पूछा?"

सैनिक शान्त खड़ा रहा।

"क्या कर रहे थे?"

कुछ न बोला।

जी! उनमें कितनी ममता भरी है?" युवराज के

पुष्ट धेनुओं को देखकर उसके मन में ममता और ईर्ष्या, प्रेम और घृणा, हर्ष और विषाद एक साथ उत्पन्न हो रहे थे। दूर-दूर तक फैले हुए फलों से लदे आम्र के उद्यानों को देखकर उसने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ी। हृदय में भयङ्कर तूफान उठ रहा था।

"इतनी विशाल समृद्धि और उपभोग करने वाले प्रजाजन इतने थोड़े?" कुमार के मन में साम्राज्य लिप्सा जागृत हो उठी। "अरे! इन हरे-भरे खेतों की रखवाली करने वाला भी तो कोई नहीं दिखाई देता। हमारे यहाँ सूखी घास के लिए पहरेदार रखने पड़ते हैं, नहीं तो उसकी भी चोरी हो जाती है। लूट, डकैती, परस्पर शत्रुता एवं द्वेष का अन्त ही नहीं आता। ये शाक्य बीज बोते हैं, और फसल पकने पर आकर काट लेते हैं। न रखवाली की जरूरत है, न झगड़े टंटों की। ये कितने सुखी हैं?"

उसने एक बार घूमकर पीछे देखा, जैसे उसके मन की बात कोई सुन रहा हो। पीछे-पीछे अनुचर सैनिक थे। उनकी भी लुब्ध दृष्टि उस शस्यश्यामला भूमि पर जमी हुई थी। उदीयमान सूर्य की किरणों में खेत ऐसे दीख रहे थे जैसे चारों ओर सुवर्ण बिछा हुआ हो। कुमार की विचार शृङ्खला उत्तरोत्तर गम्भीर बन रही थी। रह-रहकर शाक्यों का व्यवहार याद आ रहा था।

"मेरे नाना महानामन ने शाक्य युवकों की रथ दौड़ में मुझे क्यों नहीं भाग लेने दिया? शाक्य ललनाएँ अपनी कटि-मेखला हिलाती हुईं मेरा उपहास कर रही थीं। मैंने जिस शाक्य सुन्दरी को पसन्द किया और अपनी सहचरी बनाने का प्रस्ताव रखा तो उसने कितना अपमान भरा उत्तर दिया—

'शाक्य कन्याएँ सस्ती नहीं हैं।' क्या मुझे वर लेने से वह सस्ती हो जाती? मैं मगध का सेनापति हूँ। राजगृही का युवराज हूँ। यदि इनमें मिथ्याभिमान न होता तो मेरे प्रस्ताव को वरदान मानतीं। मैं इन शाक्यों का अभिमान चूर करूँगा। इन्हें बता दूँगा, किस प्रकार शाक्य कन्याएँ भटक रही हैं और उन्हें स्वीकार करने वाला कोई नहीं है।"

अचानक रथ के पहियों की घर्घराहट हुई और वनमयूर केकारव करने लगे। प्रत्येक गर्जन को घनगर्जन समझ कर नाच उठने वाला मयूर का सरल हृदय यह नहीं जानता कि विनाश की गर्जन भी ऐसी ही होती है।

कुमार की विचार शृङ्खला टूटी। एक अश्वारोही ने आगे आकर नम्रता-पूर्वक सेनापति का रत्नजटित अस्त्र उसे अर्पित किया।

"क्या अस्त्र इतना शीघ्र मिल गया?" कुमार ने अश्वारोही से पूछा।

"हाँ, स्वामिन्! किसी ने इसे छुआ तक नहीं। मुझे कहा—तुम अपने ही हाथ से उठा लो।"

"नानाजी क्या कर रहे थे?" कुमार ने स्नेहार्द्र होकर अपने नब्बे वर्ष के वृद्ध मातामह, शाक्य गणनेता महानामन के समाचार पूछे। "क्या मुझे याद कर रहे थे?"

सैनिक चुप रहा।

"कुछ नहीं पूछा?"

सैनिक शान्त खड़ा रहा।

"क्या कर रहे थे?"

सैनिक कुछ न बोला।

"नानाजी! उनमें कितनी ममता भरी है?" युवराज के

हृदय में एक द्वन्द्व प्रारम्भ हो गया। यदि उनका स्नेह न रोकता तो मैं इन अभिमानी शाक्यों का नशा एक घड़ी में उतार देता। इस समस्त भूखण्ड पर मगध का शासन होता। ननिहाल के साथ वैर खड़ा करने के लिए कोई बहाना मिलना चाहिए। फिर तो मैं इस गणतन्त्र की जड़ उखेड़ दूंगा। यह भी कोई राज्य है? प्रत्येक शाक्य समान अधिकार, प्रत्येक की मत गणना पर शासन। यहाँ का प्रत्येक व्यक्ति अपने को राजा मानता है। प्रत्येक शाक्य को गणतन्त्र का नागरिक होने का अभिमान है। ये हमारे राजतन्त्र को हलका समझते हैं, उसकी अवहेलना करते हैं। इस गणतन्त्र का अस्तित्व हमारे तेजोवध और अपमान का कारण बना हुआ है। कलेजे में काँटे के समान चुभ रहा है। किन्तु क्या करूँ? नानाजी के सफेद बाल सामने आ जाते हैं।"

कुमार विदुदर्भ अपनी राजधानी में पहुँचा। मन में भयंकर आग सुलग रही थी। ननिहाल की बातें सुनाने के लिए माँ के पास गया। किन्तु राजरानी वासभखत्तिया का मन उदास था। कुमार ने जितना कहा, उसने बिना मन के सुन लिया। एक भी प्रश्न नहीं पूछा। उसके मन में एक काँटा छुपा हुआ था। छब्बीस वर्ष हो गये, जब उसका विवाह हुआ था। उसके बाद एक बार भी पीहर न गई। बाप के घर से कभी बुलावा नहीं आया। पति के घर में पटरानी का पद प्राप्त था, किन्तु उसे इस बात की खुशी न थी। वह इसे अपमान मानती थी। मन में एक ही आश्वासन था कि उसने स्वयं अपमानित होकर शाक्यों के राज्य को प्रसेनजित के हाथों से बचाया है। भगवान् महावीर और बुद्ध को जन्म देने वाले महान् कुल की कन्या प्राप्त करके प्रसेनजित ने अपने को

गौरवशाली माना था और साम्राज्य लिप्सा को अंशतः शान्त कर लिया था। उसे इस बात की सान्त्वना थी कि मैंने शाक्यों का मस्तक नीचे कर दिया है। यदि उस समय वह न प्राप्त होती तो गणतन्त्र की राज्यलक्ष्मी का छब्बीस वर्ष पहले ही अन्त हो गया होता।

पुत्र के चले जाने पर वासभखत्तिया को अपने विवाह की पहली रात याद आई, जिसे उसे बाध्य होकर स्वीकार करना पड़ा था।

"क्यों! मैं शाक्यों का जमाई बना या नहीं?" पति के ये ताने से भरे हुए शब्द वह अभी तक न भूली थी।

"क्यों! मैंने घमण्डियों का सिर नीचा किया या नहीं?"

जो व्यक्ति स्वयं ऊँचा नहीं चढ़ सकता वह अपने से ऊँचे को नीचे गिरा कर तृप्ति प्राप्त करता है। प्रसेनजित की ईर्ष्यावृत्ति महलों में महकते हुए सुगन्धित इत्र, तेल तथा पुष्पों को दुर्गन्धित बना रही थी। वासभखत्तिया का मस्तक उस से फटा जा रहा था। गणतन्त्र के स्वतन्त्र वातावरण तथा शाक्य पिता के संस्कारों में पली हुई षोडशी कन्या का यौवन एक साम्राज्य शाही का जंगली उपासक चुपचाप लूट रहा था और उसे अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए मन मार कर अर्पण करना पड़ रहा था। प्रसेनजित के शब्द उस अभिमानिनी के हृदय में अभी तक तीक्ष्ण बाण के समान चुभ रहे थे।

ऐसे विवाह का फल भी तदनुरूप ही था। कुमार विडुदभ पिता के संस्कारों से सींचा गया विषवृक्ष था। स्वार्थलिप्सा और क्रूरता का अवतार था। अभी-अभी वह जो बातें करके गया था उन में एक बात से माता घबरा गई थी। उसने कहा था—"माँ! शाक्यों के पास इतनी समृद्ध तथा विशाल वसुन्धरा

होने पर भी भोगने का ढंग निराला है। इस राज्यलक्ष्मी का कोई एक स्वामी नहीं है। इसके लाखों मालिक हैं। वहाँ न तो गगन चुम्बी राज प्रासाद हैं और न विशाल सैन्य। वहाँ तो सभी एक सरीखे हैं, सम्पत्ति में भी और मूर्खता में भी।"

वासभखत्तिया विदुदर्भ के स्वभाव को जानती थी। इतने मात्र से उसने समझ लिया कि शाक्यगण तन्त्र पर मुसीबत आने वाली है। उसने एक गम्भीर निःश्वास छोड़ी।

कुमार के साथ जो सैनिक शाक्य गणतन्त्र में गए थे, धीरे-धीरे उनमें एक कानाफूँसी प्रारम्भ हुई। भूला हुआ आयुध लेकर जो अश्वारोही कुमार विदुदर्भ से रास्ते में मिला था उसने एक घटना कुमार से छिपा ली थी किन्तु अपने दूसरे साथियों पर प्रकट करदी। उसने बताया—जब मैं भूले हुए आयुध को लेने वापिस गया तो महानामन की दासी उस फलक को दूध से धो रही थी जिस पर बैठ कर सेनापति विदुदर्भ ने भोजन किया था। समझ में नहीं आया कि अपने सगे भागिनेय के फलक को धुलाने की क्या आवश्यकता पड़ गई? बाहर निकल कर एक शाक्य से पूछा। कुलीनता के अभिमानी उस शाक्य ने आँखें टेढ़ी करके तिरस्कार पूर्वक कहा—"वह आसन महानामन के दौहित्र द्वारा पवित्र नहीं हुआ, किन्तु एक शूद्रापुत्र के स्पर्श से अपवित्र हो गया था। इस लिए दूध से धुलाना आवश्यक था।"

"शूद्रा-पुत्र कैसे?" मैंने स्तब्ध होकर पूछा।

"तो क्या प्रसेनजित को यह अभिमान है कि हम ने उसे शाक्य कन्या ब्याही है? नहीं, ऐसा नहीं है। तुम्हारी राजरानी वासभखत्रिया! महानामन की रखी हुई एक शूद्रा दासी की लड़की है। शाक्य इतने मूर्ख नहीं हैं कि अपनी कुलीनता

छोड़ देवें। क्यों समझ गए न ? तुम्हारे राजा को जाकर कह देना।" शाक्य युवक ने आत्माभिमान के साथ कहा।

क्रमशः यह चर्चा सारी सेना में फैल गई। एक शूद्रा का पुत्र सेनापति के पद को भ्रष्ट कर रहा है। क्षत्रिय सैनिक इस अपमान को न सह सके। चारों ओर असन्तोष फैल गया। बात राजा प्रसेनजित के पास पहुँची। डर लगा, कहीं उत्तेजित सेना विद्रोह न कर बैठे। उसे शान्त करने के लिए प्रसेनजित ने वासभखत्तिया और विढुदभ को भरे दरबार में बुलाया और रानी से सच्ची-सच्ची बात पूछी। रानी ने मस्तक नीचा करके कहना प्रारम्भ किया—

"मुझे स्वयं यह मालूम नहीं था कि मेरी माता शूद्रा है। पिता महानामन ने मुझे अपनी ही पुत्री के समान लाड़ प्यार से पाला था। जब तक अपने पिता के घर रही, मुझे किसी ने यह रहस्य नहीं बताया। पिता ने मुझे वही शिक्षा दी जो एक शाक्यकुमारी को दी जाती है। किन्तु राजन्!" रानी का झुका हुआ मस्तक ऊँचा उठ गया। "मेरे पिता असत्यवादी नहीं हैं। शाक्य शिरोमणि महानामन ने जिस रात को मुझे अपने हृदय से उतार कर तुम्हारे हवाले किया उसी दिन माता के शूद्रा होने की बात मुझे कह दी थी। मैं शूद्रा ठहरी। उसी दिन मैंने तुम्हारे महलों में आने की अपेक्षा एक वेश्यागृह में जाना अधिक पसन्द किया होता। किन्तु मेरे वृद्ध पिता ने आँखों में आँसू भर कर दीनता भरे शब्दों में कहा— बेटी! शाक्य सेना प्रसेनजित की सागर के समान विशाल वाहिनी का सामना न कर सकेगी। एक पत्नीव्रत के नियम ने शाक्यों की पुरुष संख्या को बहुत घटा दिया है। शुद्ध शाक्य रक्त वाली एक भी कन्या किसी बाहर के राजा को

वरने के लिए तैयार नहीं होगी। यदि कोई तैयार हो भी जाय तो शाक्य युवक अपने रहते हुए किसी कन्या को परदेशी राजा के पास न जाने देंगे। परिणाम यह होगा कि जो मुट्ठी भर हैं वे भी कट कर मर जायँगे। एक परदेशी राजा के हाथ से शाक्यों का खून बहेगा, उनका भयङ्कर संहार होगा। शाक्य कन्याओं का सतीत्व लुटेगा। बलात्कार से राक्षसों की उत्पत्ति होगी। मनुष्यों का संहार तो होगा ही, साथ में जनतन्त्र और प्रजातन्त्र की परम्परा लुप्त हो जायगी। इसी महानाश को रोकने के लिए मैं अपनी प्यारी संतान की बलि दे रहा हूँ।"

"यदि मैं इसके लिए तैयार न होती तो शाक्य माताओं की गोद से कैसे पाप प्रकट होते इसका नमूना सामने खड़ा है।" यह कह कर माता ने अपने ही पुत्र का स्पर्श किया।

जैसे जहर का एक घूँट पीकर वह फिर बोली—"मैंने यह सब कुछ नहीं होने दिया। किन्तु महाराज! आज भी मेरे हृदय में वे शाक्य तरुण घर किए हुए हैं। मेरी स्वप्न लोक की सृष्टि के निर्माता वे ही हैं। उनकी वह मस्त चाल, सरल हृदय, सुघड़ शरीर, कलाप्रेम तथा रथों की दौड़ आज भी मेरे मन को खींच रही है। वे रूप और कला, वीरता तथा विरक्ति का एक साथ आनन्द लेना जानते हैं। महाराज! आपने पहली ही रात को अपने रंगमहल में उनका अपमान किया। मेरे स्वप्नों की दुनिया तो मिट ही गई थी। आपने जले पर नमक छींटा। मेरे हृदय ने कभी आपको स्वीकार नहीं किया। मेरे गर्भ से उत्पन्न हुआ तथा मेरी ही गोद में पला हुआ यह पुत्र मेरा आदर्श नहीं है। यह तो मेरा पाप है।"

यह कह कर वह बयालीस वर्ष की शाक्यसुन्दरी सिर

झुका कर खड़ी हो गई। उसके मस्तक की सिन्दूर रेखा ललाट से चोटी की ओर ऊँची उठती हुई ऐसी मालूम पड़ रही थी, जैसे वह स्वप्नलोक में विचरण के लिए जा रही हो।

"हाँ! हाँ। शाक्यनन्दिनी!" प्रसेनजित ने उपहास करते हुए कहा। "मैं यह तो समझ गया कि शाक्य झूठे और ठग होते हैं। तुम्हारी बातों से यह अच्छी तरह सिद्ध हो गया। किन्तु शाक्यों के शिरोमन्च तुम्हारे पिता महानामन ने तुम्हारे साथ एक ही पात्र में भोजन किया था। यह तो एक सत्य है, मेरे सैनिकों ने अपनी आँखों से देखा है। क्या इससे उनकी कुलीनता में बट्टा नहीं लगा? क्या उस समय तुम शूद्रा नहीं थीं? क्या उन्होंने गणतन्त्र की रक्षा के लिए अपनी भोजन सम्बन्धी छूआछूत को ताक में नहीं रख दिया? बस! मुझे तो इतना ही बताना था। शाक्य केवल धूर्त ही नहीं, पतित भी हैं।"

उत्तर देने के लिए वासभखत्तिया का मस्तक धीरे-धीरे ऊँचा उठा। उसने हँसते हुए कहा—"महाराज! मैं शाक्यों का बचाव नहीं करना चाहती। गणतन्त्र और अपनी कुलीनता को ऐसे कपटपूर्ण उपायों से बचाने वाले अधिक दिन नहीं टिक सकते। फिर भी आपके सामने यथार्थ बात रख देती हूँ। उस दिन मेरे पिता जाति-पतित नहीं हुए किन्तु उन्होंने आपके प्रतिनिधियों को मूर्ख बना दिया। उनकी आँखों में धूल झोंक दी। मेरे पिता ने मेरी थाली में जैसे ही दाहिना हाथ डाला उसके पास एक महत्वपूर्ण सन्देश पहुँचाया गया। वे अपने बाँए हाथ से सन्देश पढ़ते रहे। दाहिना हाथ भोजन की थाली में ही पड़ा रहने दिया। मैंने अपना भोजन पूरा कर लिया। मेरे पिता महानामन ने ग्रास मुख तक उठाया

करने के लिए तैयार नहीं होगी। यदि कोई तैयार हो भी जाय तो शाक्य युवक अपने रहते हुए किसी कन्या को परदेशी राजा के पास न जाने देंगे। परिणाम यह होगा कि जो मुट्ठी भर हैं वे भी कट कर मर जायँगे। एक परदेशी राजा के हाथ से शाक्यों का खून बहेगा, उनका भयङ्कर संहार होगा। शाक्य कन्याओं का सतीत्व लुटेगा। बलात्कार से राक्षसों की उत्पत्ति होगी। मनुष्यों का संहार तो होगा ही, साथ में जनतन्त्र और प्रजातन्त्र की परम्परा लुप्त हो जायगी। इसी महानाश को रोकने के लिए मैं अपनी प्यारी संतान की बलि दे रहा हूँ।"

"यदि मैं इसके लिए तैयार न होती तो शाक्य माताओं की गोद से कैसे पाप प्रकट होते इसका नमूना सामने खड़ा है।" यह कह कर माता ने अपने ही पुत्र का स्पर्श किया।

जैसे जहर का एक घूँट पीकर वह फिर बोली—"मैंने यह सब कुछ नहीं होने दिया। किन्तु महाराज! आज भी मेरे हृदय में वे शाक्य तरुण घर किए हुए हैं। मेरी स्वप्न लोक की सृष्टि के निर्माता वे ही हैं। उनकी वह मस्त चाल, सरल हृदय, सुघड़ शरीर, कलाप्रेम तथा रथों की दौड़ आज भी मेरे मन को खींच रही है। वे रूप और कला, वीरता तथा विरक्ति का एक साथ आनन्द लेना जानते हैं। महाराज! आपने पहली ही रात को अपने रंगमहल में उनका अपमान किया। मेरे स्वप्नों की दुनिया तो मिट ही गई थी। आपने जले पर नमक छींटा। मेरे हृदय ने कभी आपको स्वीकार नहीं किया। मेरे गर्भ से उत्पन्न हुआ तथा मेरी ही गोद में पला हुआ यह पुत्र मेरा आदर्श नहीं है। यह तो मेरा पाप है।"

यह कह कर वह बयालीस वर्ष की शाक्यसुन्दरी सिर

झुका कर खड़ी हो गई। उसके मस्तक की सिन्दूर रेखा ललाट से चोटी की ओर ऊँची उठती हुई ऐसी मालूम पड़ रही थी, जैसे वह स्वप्नलोक में विचरण के लिए जा रही हो।

"हाँ! हाँ। शाक्यनन्दिनी!" प्रसेनजित ने उपहास करते हुए कहा। "मैं यह तो समझ गया कि शाक्य झूठे और ठग होते हैं। तुम्हारी बातों से यह अच्छी तरह सिद्ध हो गया। किन्तु शाक्यों के शिरोधन्य तुम्हारे पिता महानामन ने तुम्हारे साथ एक ही पात्र में भोजन किया था। यह तो एक सत्य है, मेरे सैनिकों ने अपनी आँखों से देखा है। क्या इससे उनकी कुलीनता में बट्टा नहीं लगा? क्या उस समय तुम शूद्रा नहीं थीं? क्या उन्होंने गणतन्त्र की रक्षा के लिए अपनी भोजन सम्बन्धी छूआछूत को ताक में नहीं रख दिया? बस! मुझे तो इतना ही बताना था। शाक्य केवल धूर्त ही नहीं, पतित भी हैं।"

उत्तर देने के लिए वासभखत्तिया का मस्तक धीरे-धीरे ऊँचा उठा। उसने हँसते हुए कहा—"महाराज! मैं शाक्यों का बचाव नहीं करना चाहती। गणतन्त्र और अपनी कुलीनता को ऐसे कपटपूर्ण उपायों से बचाने वाले अधिक दिन नहीं टिक सकते। फिर भी आपके सामने यथार्थ बात रख देती हूँ। उस दिन मेरे पिता जाति-पतित नहीं हुए किन्तु उन्होंने आपके प्रतिनिधियों को मूर्ख बना दिया। उनकी आँखों में धूल झोंक दी। मेरे पिता ने मेरी थाली में जैसे ही दाहिना हाथ डाला उसके पास एक महत्वपूर्ण सन्देश पहुँचाया गया। वे अपने बाँए हाथ से सन्देश पढ़ते रहे। दाहिना हाथ भोजन की थाली में ही पड़ा रहने दिया। मैंने अपना भोजन पूरा कर लिया। मेरे पिता महानामन ने ग्रास मुख तक उठाया

भी नहीं। आपके प्रतिनिधि तो इस खुशी में फूले हुए थे कि उन्हें बुद्ध और महावीर के कुल की कन्या प्राप्त हो रही है। इस उल्लास में उन्होंने ध्यान तक नहीं दिया।"

"शूद्रे! आज से तुम्हें राजेश्वरी के पद से च्युत किया जाता है। साथ में तुम्हारे पुत्र को सेनापति के पद से।"

राजाज्ञा के अनुसार मां और बेटा दोनों के गौरवपूर्ण पद छीन लिए गए।

विदुदर्भ क्रोध से जल रहा था। प्रतिशोध की भावना तीव्र हो रही थी। उसे सारा दोष अपनी माता और नाना का दिखाई दे रहा था। सभा को सम्बोधित करते हुए उसने कहा—"सेनापति पद के कारण मुझे जो गौरव प्राप्त था वह आपका दिया हुआ था, आप उसे छीन भी सकते हैं। इन सब प्रतिष्ठा चिह्नों को आप वापिस ले सकते हैं किन्तु मेरी भुजाएँ तो मेरे पास ही रहेंगी। इनमें जो बल है वह तो कहीं नहीं जा सकता। निर्णय केवल इतना ही है कि इनमें जो खून बह रहा है वह पिता का है या माता का? यह निर्णय मैं आप हो लोगों पर छोड़ता हूँ।"

पुरोहित ने व्यवस्था दी—"माता को अपेक्षा पिता का विशेष अधिकार है।"

"बस! इतना ही पर्याप्त है।" यह कह कर विदुदर्भ ने अपनी भुजाओं को फटकारा। "मैं राजतन्त्र का उपासक हूँ। इन शाक्यों ने धोखा देकर मुझे अपमानित किया और उपहास का पात्र बनाया। मैं उनके गणतन्त्र को निर्मूल कर दूंगा। पृथ्वी पर से इनके बीज मिटा दूंगा। इस शूद्रा ने अपना बलिदान कर के जिन शाक्य माताओं, बहुओं तथा पुत्रियों का सतीत्व बचाया है, मैं उन्हें भ्रष्ट करूंगा। मेरे

बैठने के कारण भोजनपीठ को भी अस्पृश्य मानने वाले उस बूढ़े महानामन को मैं बता दूंगा कि विडुदृभ का अपमान किसे कहते हैं ? आप मुझे सेनापति पद दें या न दें, मैं तो अपने मन की करूंगा ही ।

(२)

धर्माध्यक्ष की व्यवस्थानुसार उसे फिर सेनापति पद दे दिया गया। उसने उसी समय पिता का सिर काट लिया और माता के भी प्राण ले लिए। विशाल वाहिनी लेकर विडुदृभ ने शाक्यों पर चढ़ाई कर दी।

शाक्यों के पास न तो इतने सैनिक थे और न इतना बड़ा शस्त्रसंग्रह, जिससे वे खुल्लमखुल्ला लड़ते। उन्होंने नगर के द्वार बन्द कर लिए और किलेबन्दी कर के बैठ गए।

विडुदृभ को मालूम था कि शाक्यों की किलेबन्दी और नगरी के द्वारों को तोड़ना अत्यन्त कठिन है। उसने दूत द्वारा कहला भेजा।

"कौन कहता है मैं लड़ने के लिए आया हूँ। शाक्यों का भागिनेय होकर क्या मैं उन पर ऐसी क्रूरता भरी दृष्टि डाल सकता हूँ ? मैं तो आज वैशाख पूर्णिमा के पवित्र दिन भगवान् बुद्ध के स्थान का दर्शन करने आया हूँ।"

"तो दरवाज़े खोल दो।"

शाक्यों में यह रिवाज़ था कि भगवान् बुद्ध का नाम लेकर कोई भी उनका अतिथि बन सकता था। उसके लिए सभी द्वार खुले थे। उसके प्रति किसी को अविश्वास न होता था। उनका यह दृढ़ निश्चय था कि भगवान् बुद्ध का नाम लेने वाला धोखा नहीं दे सकता। उसमें कपट नहीं रह सकता।

द्वार खोल दिए गए। विदुदर्भ की क्रूर सेना जंगली पशुओं के समान टूट पड़ी। सारी नगरी में नृशंस हत्या का ताण्डव होने लगा।

विदुदर्भ ने आज्ञा दी—"आज वैशाली का कोई प्राणी जीवित नहीं रहना चाहिए। तुम्हारे सामने कोई आए, वह शस्त्रधारी हो या निःशस्त्र, स्त्री हो या छोटा बालक, वृद्ध हो या अशक्त। तुम्हें किसी पर दया दिखाने की आवश्यकता नहीं है। जैसे किसान फसल काटता है, इसी प्रकार शाक्यों को काट डालो। अपनी भुजाओं के बल और खड्ग की तीक्ष्ण धारा से वैशाली को शवपुरी बना दो।"

विदुदर्भ की आज्ञा ने सैनिकों को और भी उच्छृंखल बना दिया।

नगर की असहाय, निःशस्त्र तथा निर्दोष जनता को काटता हुआ विदुदर्भ आगे बढ़ा। अबलाओं का क्रन्दन, बालकों की करुण चीत्कार, वृद्धों की सिसकियाँ, कठोर गर्भा माताओं के निराशा भरे लोचन उसे विचलित न कर सके। मार्गों में खून की नालियाँ बहने लगीं।

अपनी राक्षसी लीला पर अट्टहास करता हुआ वह आगे बढ़ा चला आ रहा था। नगर द्वार पर खड़ा होकर भागने वालों को मौत के घाट उतारने लगा। उसने सामने से एक वृद्ध को आते हुए देखा। हाथ की लकड़ी डगमगा रही थी। शवों के ढेर में से बच-बच कर चला आ रहा था। आँखों पर सफेद पपणियाँ थीं, उन्हें सफेद भवों ने ढक रखा था। दुबली पतली गर्दन पर सफेद बाल लटक रहे थे। ऐसा मालूम पड़ता था जैसे यह दृश्य देखने के लिये मृत्यु ने उसे वापिस भेज दिया हो।

"हाँ, हाँ, आइए नानाजी ! घर को धोकर लीप लिया न ?" विदुदर्भ ने ताना मारा। "आज मैं उस शुद्धि को पूरी कर देता हूँ। दासी पुत्र के साँस से अपवित्र बने हुए शाक्यों की मैं रक्त शुद्धि कर रहा हूँ। अब वे बाहर और भीतर पवित्र हो जाएँगे।"

"भाई ! आखिर तुम मेरे दौहित्र हो ! मुझे क्षमा करो ! मेरे बुढ़ापे की लाज रखो।" महानामन ने हाथ जोड़ते हुए कहा। "मेरे अकेले के पाप का दण्ड तुम सभी शाक्यों को दे रहे हो। मेरे पाप के लिए मुझे दण्ड दो।" बूढ़े ! विदुदर्भ ने ज़रा कम्पित स्वर में कहा।

"तू भाग जा। अपनी सन्तान को लेकर निकल जा। तुझे तुझे अभयदान है। तू मेरा नाना है। मुझे तुझ पर दया आरही है।"

"मुझे अकेले को नहीं दौहित्र।" बूढ़े के काँपते हुए हाथ पूरे जुड़ भी न सके। "शाक्यों को बचाओ! इन बालकों, स्त्रियों, सगर्भाओं, प्रसूताओं और माताओं पर दया करो।"

"दया ! दया किसे कहते हैं ?" विदुदर्भ नरसंहार का आनन्द ले रहा था। "बूढ़े ! शत्रु पर दया करना मूर्खता है। मगध की गद्दी पर बैठने वाले अपने बाप पर भी दया करना नहीं जानते।"

"अच्छा भाई ! मैं एक माँग करता हूँ। मैं अपने पाप का एक छोटा-सा प्रायश्चित करना चाहता हूँ। क्या इतनी सी बात मंजूर करोगे ?"

"बोलो ! जल्दी बोलो ! क्या चाहते हो ?"

"इस पानी में"—महानामन ने पास ही के झरने की ओर इशारा करते हुए कहा "मैं एक डुबकी लगालूँ तब तक तुम

इस नरसंहार को रोक दो। तब तक जो भागना चाहें उन्हें निकल जाने दो। यह एक छोटा सा प्रायश्चित है। आशा है अपने बूढ़े नाना की इतनी सी बात के लिए इन्कार न करोगे। इस से मेरे पाप का एक छोटा सा प्रायश्चित हो जायगा।"

"अच्छी बात है! हम भी तब तक साँस ले लेते हैं। जल्दी से डुबकी लगा लो।"

यह कह कर विदुदर्भ ने संहार रोकने के लिए पताका फहराई।

बूढ़े ने झरने में डुबकी लगाई। पानी बहुत गहरा न था नगर के लोग अपने प्राण लेकर भागने लगे। संहार से रुकी हुई सेना खड़ी उन्हें देख रही थी। अब भी उसके हाथ में नग्न खड्ग चमक रहे थे और दूसरी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे थे।

समय बीतने लगा। विदुदर्भ बेचैन हो रहा था। कब बूढ़ा निकले और कब वह फिर संहार को आज्ञा दे। वह अपने अनुचरों को कह रहा था—"बूढ़े ने प्राणायाम का अभ्यास कर रखा है। अधिक नहीं तो हज़ार पाँच सौ के प्राण तो बच ही जायँगे। बूढ़ा कुछ न कुछ पुण्य तो कमा ही लेगा।"

सामने सारे नगर में फैली हुई सेना थी। प्रत्येक सैनिक के हाथ में नग्न खड्ग था। अब भी उस से खून टपक रहा था। किन्तु कुछ देर में सारी सेना स्तम्भित सी हो रही थी।

विदुदर्भ ने झरने पर खड़े होकर देखा। किनारे पर बूढ़े महानामन की लकड़ी और उत्तरीय पड़े थे। पानी की सतह पर अब भी बुलबुले उठ रहे थे।

"बूढ़े ने बड़ी देर लगा दी। इस प्रकार तो बहुत से शाक्य

निकल जाएँगे।" उसने अधीरता के साथ कहा। जैसे कोई अलभ्य अवसर हाथ से निकल रहा हो।

सैनिकों के हाथों में हज़ारों खड्ग मौत को जिह्वाओं के समान लपलपा रहे थे। प्रत्येक द्वार से झुण्ड के झुण्ड नागरिक निकल रहे थे। विदुदर्भ देख देख कर बेचैन हो रहा था।

"यह क्या!" विदुदर्भ ने फिर पानी पर नज़र डाली। अब बुलबुले शान्त हो गए थे।

"इस धूर्त शाक्य ने क्या किया? बूढ़ा कहाँ निकल गया?"

'महाराज!' पास ही खड़े हुए एक अनुचर ने जवाब दिया। "हो सकता है, अन्दर ही अन्दर किसी गुप्त मार्ग से निकल गया हो। शाक्यों के हृदय और गुप्त मार्गों का पता लगाना बड़ा कठिन है।"

"तो अन्दर उतरो! गुप्त मार्गों को ढूँढ़ निकालो।" विदुदर्भ ने आज्ञा दी।

आदमी अन्दर घुस गए। झरने को ढूँढ़ना प्रारम्भ किया। थोड़ी देर बाद नीचे के तल से कुछ निकाल कर बाहर लाए। वह एक वृक्ष की जड़ थी। उसी के साथ चिपका हुआ महानामन का निष्प्राण शरीर था।

आश्चर्य मूढ़ विदुदर्भ ने जब अपनी दृष्टि उस मृतदेह से हटाकर नगरी की ओर डाली तो वह सारी निर्जन दिखाई दी।

हज़ारों खड्गों को निकाले हुए सेना डुबकी पूरी होने की प्रतीक्षा कर रही थी। किन्तु.........................

१९
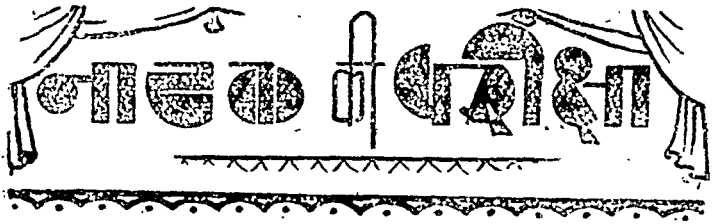
पण्डित विशाखदत्त राजगृही के प्रसिद्ध विद्वान् थे। संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के प्रखर पण्डित, साहित्य और दर्शन दोनों में गहरे उतरे हुए, सफल अध्यापक और सरस कवि। वाणी और लेखनी पर पूरा अधिकार था। प्रत्येक शब्द से पाण्डित्य और प्रतिभा का परिचय मिलता था। किन्तु सरस्वती जितनी प्रसन्न थी, लक्ष्मी उतनी ही अप्रसन्न। घर पर पढ़ने के लिए विद्यार्थी आते थे किन्तु उनमें सूखी भक्ति के सिवाय अधिक सेवा करने की सामर्थ्य न थी। मठाधीश अपनी गद्दी की नाक रखने के लिए कभी-कभी शास्त्रार्थ में वावदूक चुन लेते और बड़े सम्मान के साथ बुलाते। पण्डितजी उस समय अपने दारिद्रय को भूल जाते

और आत्माभिमान के साथ जम कर बैठते। समस्त सामाजिकों की दृष्टि उनकी ओर घूम जाती। जब प्रत्येक वाक्य के साथ साधुवाद मिलता तो उन्हें घर का कोई भान न रहता। किन्तु शास्त्रार्थ समाप्त होने पर दक्षिणा लेकर जब घर लौटते तो पण्डितानी की लिस्ट देखकर चौंक उठते। उन्हें पता चलता कि दक्षिणा से तो दो सप्ताह भी निर्वाह न होगा। अभाव अपना मुँह बाए खड़ा दिखाई देता। दूसरी ओर से कानों में पड़ता कि वे जिस महन्त के वावदूक बने थे, चारों ओर उसकी विजय के ढोल पीटे जा रहे हैं और उसके चरणों में बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ चढ़ रही हैं। पण्डितजी की समझ में न आता कि यह किस पाप का फल है जिससे वे अपने परिश्रम और प्रतिभा का फल स्वयं नहीं भोग सकते। उनकी विद्वत्ता का मूल्य महन्त को क्यों मिल रहा है? स्वयं, पण्डितानी और तीन बच्चों की उदरपूर्ति करना पण्डितजी के लिए बहुत बड़ी समस्या थी। वे त्याग और मोक्ष का उपदेश घण्टों दे सकते थे, दर्शनशास्त्र की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझा सकते थे, कुबेर के खजाने की सूची तैयार कर सकते थे किन्तु पाञ्च प्राणियों के पेट की गुत्थी को सुलझाना पहुँच के बाहर था।

घर में एक छोटी कोठरी थी। उसके द्वार पर घास का छप्पर था। छोटे से अहाते के चारों ओर काँटो की बाड़ थी। पण्डितजी अपनी कुटिया से सन्तुष्ट थे, उन्हें महलों की चाह न थी, किन्तु जब बच्चों का कोलाहल और उन्हें पीटती हुई पण्डितानी का कर्कश स्वर कानों में पड़ता तो विद्या की उपासना और विश्राम दोनों असम्भव हो जाते। उस समय मन में खीझ उठती। कभी तो वह पण्डितानी पर उतरती, कभी बच्चों पर और कभी अपने पर।

तत्त्वचिन्तन और कविता के लिए पण्डितजी के पास एक ही समय था। रात को जब बच्चे सो जाते तो वे कोठरी के एक कोने में दिया जलाकर बैठ जाते। बड़ी रात तक अध्ययन तथा लेखन में लगे रहते। दिन भर के अशान्त वातावरण से क्षुब्ध मस्तिष्क और उत्तप्त हृदय को उस समय शान्ति मिलती। अभाव से आक्रान्त वस्तुस्थिति को छोड़कर वे कल्पना के मधुर जगत् में विचरण करने लगते, जहाँ उन्हें सब कुछ परिपूर्ण और अपने मन के अनुकूल मिलता। वे भूल जाते कि फटी हुई साड़ी लपेटे, दिन भर के कामों और कोलाहल से परेशान, थक कर लेटी हुई उस ब्राह्मणी के साथ भी उनका कोई सम्बन्ध है, जो वर्षों के लिहाज से युवती होने पर भी बुढ़ापे को निमन्त्रित कर चुकी है। उनकी कल्पित नायिका तो नख से लेकर शिखा तक अनिन्द्य सुन्दरी, सतत तरुणी और कौशेय से आवृत्त होती थी। उन्हें इस बात का भी ध्यान न रहता कि फटी हुई चटाई पर सोए हुए छोटी-छोटी बातों के लिए तरसने वाले वे भोले शिशु मेरी ही सन्तान हैं और इनके भरण-पोषण तथा सुख-सुविधा का उत्तरदायित्व मुझ पर है।

जीवन के रेगिस्तान में कल्पना वह मरीचिका है जो प्यासे हरिण को दौड़ते रहने के लिए प्रेरित करती है। लोग कहते हैं, मरीचिका धोखा है। किन्तु क्या उसमें प्रगति के लिए प्रेरणा विद्यमान नहीं है। दौड़ते रहने का नाम जीवन है, उसमें फल प्राप्ति का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। सत्य और मिथ्या का आधार फल-प्राप्ति नहीं है। उनका आधार है जीवन के लिए प्रेरणा। जिसमें जितनी अधिक प्रेरणा है वह उतना ही सत्य है। निठल्ले बैठ जाने का अर्थ है मृत्यु को

समय से पहले स्वीकार कर लेना। दौड़ते-दौड़ते प्राण देने का अर्थ है जीवन के प्रत्येक साँस को उपयोग में ले आना। इसी का नाम सफलता है। पण्डितजी उस कल्पना जगत् में तब तक विचरते रहते जब तक निद्रा पूरी तरह अभिभूत न कर लेती।

प्रातः होने पर पण्डितजी जिस बात से बहुत अधिक बचना चाहते थे वह था पण्डितानी का साक्षात्कार। उन्हें भय होता था, कहीं आटे-दाल का प्रश्न न खड़ा हो जाय। किन्तु भयभीत होने से मुक्ति नहीं मिला करती। वस्तुस्थिति का सामना करना ही पड़ता है। जब पण्डितानी उदास होकर कहती कि आज आटा खत्म हो गया है, दाल भी एक दिन से अधिक नहीं चलेगी तो वे मन-ही-मन कुढ़कर रह जाते। शास्त्रों में अप्रतिहत बहने वाली उनकी वाग्धारा यहाँ सूख जाती। प्रतिभा कुण्ठित हो जाती। तेज मन्द पड़ जाता। यह पराजय बहुत ही अखरती किन्तु कोई मार्ग न सूझता।

एक दिन पण्डितानी ने कहा—"अपने नगर के राजकुमार अभयसिंह बड़े दानी हैं। पण्डितों और कवियों का आदर करते हैं। आप उनके पास जाइए।"

विशाखदत्त को पाण्डित्य का गर्व था। किसी के सामने हाथ पसारना आत्म-सम्मान के विपरीत मालूम पड़ता था। किन्तु लाचारी थी। पण्डितानी के आग्रह से वे राजकुमार के पास पहुँचे और भोजपत्र पर लिखा हुआ एक श्लोक अर्पित किया। उसमें लिखा था—

"उमंग से बीज बोया, पेड़ उग आया किन्तु जीवन भर एक भी फल नहीं लगा। जिसे दारिद्र्य रूपी लू झुलस डालती हो उसके लिए बेचारा किसान क्या करे?"

श्लोक पढ़कर कुमार पण्डित का दुःख समझ गया। उसने पूछा—"पण्डितजी! आपकी क्या सेवा की जाय?"

विशाखदत्त ने कहा—"विद्या प्राप्त करने में मैंने बहुत परिश्रम किया है। अपने पाण्डित्य का मुझे अभिमान है। इसके लिए सर्वत्र आदर होता है। किन्तु पास में न तो घर है जिसमें शान्तिपूर्वक रह सकूँ और न पाँच प्राणियों का पेट भरने का साधन। आप यह स्वयं जान सकते हैं कि मेरी दरिद्रता का निवारण कैसे हो सकता है।"

"अच्छा पण्डितजी! कोई नई रचना लाइए। यदि मुझे पसन्द आ गई तो एक लाख सुवर्ण मुद्राएं पारितोषिक मिलेगा।"

"जय हो राजकुमार की।" पण्डितजी ने पुलकित होते हुए कहा "मैं अवश्य नई रचना लाऊँगा। आपको उससे प्रसन्नता होगी।"

यह कहकर प्रसन्न होते हुए वे अपने घर चले गए।

(२)

दूसरे दिन पण्डित विशाखदत्त ने एक नाटक लिखना प्रारम्भ किया। किन्तु जहाँ कल्पना के तन्तु निकलें और टूट जायँ ऐसी स्थिति में सारा वस्त्र कैसे बुना जा सकता है? न तो घर में शान्ति थी और न आजीविका के लिए निश्चिन्तता। न रात को नींद का ठिकाना था, न दिन को विश्राम। पण्डितजी बड़े सङ्कट में पड़ गए। प्रत्येक समय बेचैन रहने लगे। कभी-कभी इतने उद्विग्न हो उठते कि गृहिणी के साथ लड़ पड़ते। वे कहते—"वास्तव में मुझे दरिद्र बनाने वाले तुम्हीं हो। तुम्हारे कारण मेरी शक्ति रुकी हुई है।

प्रतिभा कुण्ठित हो रही है। मैं घर से बाहर जब पण्डितों में जाकर बैठता हूँ तो परम शान्ति का अनुभव करता हूँ। जब घर में आता हूँ तो एक क्षण भी शान्ति नहीं मिलती। दरिद्रता दूर करने के लिए राजकुमार ने जो उपाय बताया है उसे भी नहीं करने पाता।"

इस प्रकार व्याकुल होते हुए वे अपने पोथी पाने लेकर नगर के बाहर निकल जाते और किसी शान्त उपवन में बैठ कर नाटक लिखते। दरिद्रता दूर करने का अनुष्ठान करते।

उन्हें संसार के द्वन्द्वों का एक साथ अनुभव हो रहा था। एक ओर घर का कोलाहल और अशान्ति थी, दूसरी ओर वन का एकान्त और स्तब्धता। एक ओर दरिद्रता का कांटा चुभ रहा था, दूसरी ओर साहित्य रचना का सात्विक आनन्द। एक ओर पेट की क्षुधा थी दूसरी ओर चित्त की तृप्ति। इस प्रकार द्वन्द्वों का अनुभव करते हुए उन्होंने रचना पूर्ण की। उसे लेकर कुमार के पास पहुँचे।

कुमार ने आदर से बुलाया, बैठने के लिए आसन दिया। पूछा—"कहिए पण्डितजी! आपकी रचना कैसी है? गद्य, पद्य या चम्पू?"

"मैंने एक नाटक लिखा है।" पण्डितजी ने उत्तर दिया।

"नाटक रचा है? बड़ी अच्छी बात है।" कुमार ने आनन्द प्रकट करते हुए कहा। "किन्तु पण्डितजी!" कुमार ने फिर कहना प्रारम्भ किया। "नाटक का आनन्द तो केवल सुन कर नहीं लिया जा सकता। उसका नाट्यगृह में प्रयोग होना चाहिए। तभी देख कर उसका मूल्यांकन हो सकेगा।"

"जैसी आपकी इच्छा!" विशाखदत्त ने उत्तर दिया। "आप प्रयोग की व्यवस्था कर दीजिये। उसे देख लेने पर

यदि आप को सन्तोष हो तभी पारितोषिक दीजिएगा।"
पण्डितजी को अपनी रचना पर पूरा भरोसा था।

नाटक की पाण्डुलिपि राजकुमार के पास छोड़ कर वे घर की ओर रवाना हुए। चित्त में यह आनन्द था कि उनकी कृति का अभिनय होगा और बड़े-बड़े विद्वान् देखेंगे। विद्वान् को तब विशेष आनन्द होता है जब उसकी रचना अधिकारी द्वारा जांची जाती है।

घर पहुँचा तो पण्डितानी आशा लगाए बैठी थी। विशाखदत्त को खाली हाथ देख कर उसने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ी। पण्डितजी का सारा आनन्द हवा हो गया। पण्डितानी का निःश्वास तीर के समान कलेजे में चुभ गया। ऐसा मालूम पड़ा, जैसे वे बहुत थक गए हों। सीधे कोठरी में जाकर पड़ गए। सारे शरीर से पसीना बहने लगा।

(३)

राजकुमार ने राजमहल के साथ लगे हुए राजकीय नाट्य-गृह में अभिनय की व्यवस्था की। नाट्याचार्य शारंङ्गपाणि को सूत्रधार बनाया। दूसरे पात्रों के लिए नगर की रंगशालाओं से नर्तकियों तथा वारांगनाओं में से तथा राज-सेवकों में से चुनाव करने की आज्ञा दी।

अभिनय की सारी तैयारियाँ हो गईं। निश्चित दिन प्रयोग प्रारम्भ हुआ। राजकुटुम्ब, राजकुमार, नगर के सेठ, राज कर्मचारी, पण्डित, आचार्य, कवि, कलाकार तथा दूसरे नागरिकों से प्रेक्षागृह भर गया। पण्डित विशाखदत्त राजकुमार के पास ही बैठे थे।

नाटका नाम था 'निर्वेद'। नमिराजा का चरित्र कथा वस्तु था। तीन अंक थे। पहले अंक में नमिराजा का हाथी हस्तिशाला से निकल भागता है और चन्द्रयश राजा की सीमा में पहुँच जाता है। चन्द्रयश उसे पकड़कर अपनी हस्तिशाला में बन्द कर देता है। परिणाम स्वरूप दोनों में युद्ध होता है। इस प्रकार पहले अंक में वीर रस प्रधान था।

दूसरे अंक में चन्द्रयश की माँ साध्वी मदनरेखा युद्ध को रोकना चाहती है। वह दोनों को समझाती है। अन्त में नमिराजा को यह पता चलता है कि मदनरेखा दोनों की माँ है। वह अपने बड़े भाई चन्द्रयश से प्रेम पूर्वक मिलता है। इस में शान्त और करुण का सम्मिश्रण था।

इसके बाद तीसरा अंक प्रारंभ होता है। नमिराजा के शरीर में दाह ज्वर उत्पन्न होता है। राजा व्याकुल होकर शय्या में करवटें बदलता है किन्तु चैन नहीं पड़ता। वह पुकार रहा है—"मुझे ठण्डे पानी में डुबादो। मेरे लिए हिमालय का शिखर तोड़ लाओ। कितनी जलन हो रही है? वैद्यों को बुलाओ। यदि वे मेरे दाह को शान्त न कर सकें तो उनके नाक कान काटकर नगर से बाहर निकाल दो।"

इतने में राजवैद्य आता है और राजा के सारे शरीर पर चन्दन पोतने के लिए कहता है। तुरन्त सैकड़ों दासियाँ और रानियाँ चन्दन घिसने लगती हैं। भरे हुए कटोरे आने लगते हैं और लेप प्रारम्भ हो जाता है।

"किन्तु इतनी खनखनाहट क्यों हो रही है? यह कोलाहल तो मेरे कानों को फाड़े डालता है।" राजा ने घबराकर कहा।

रानियों के हाथों में चूड़ियाँ थीं। चन्दन घिसते समय

उन्हीं का शब्द हो रहा था। राजा यदि स्वस्थ होता तो सम्भवतया उसी आवाज को सुनकर प्रसन्न हो उठता। उस का मन नाचने लगता। किन्तु इस समय वही मधुर झंकार कर्णज्वर उत्पन्न कर रही थी। सुन कर सिर फटा जा रहा था। चन्दन के लेप से कुछ शान्ति मिलती थी किन्तु चूड़ियों की आवाज नई अशान्ति उत्पन्न कर रही थी। राजा ने आकुल होकर कहा—"यह कोलाहल मेरे कानों में भयङ्कर पीड़ा उत्पन्न कर रहा है। या तो इसे बन्द कर दो या मेरे कानों में ऐसी कोई चीज डाल दो जिससे यह सुनाई न पड़े।

रानियों ने सौभाग्य के चिन्ह स्वरूप एक एक चूड़ी हाथ में रहने दी और बाकी की चूड़ियों को उतार दिया। आवाज़ शान्त हो गई। राजा को कुछ चैन पड़ा। उसने पास ही खड़े हुए सेवक से पूछा—"क्या चन्दन घिसने का काम समाप्त हो गया?"

सेवक ने उत्तर दिया—"नहीं महाराज! चन्दन तो अब भी घिसा जा रहा है।"

"तो आवाज कैसे बन्द हो गई?"

सेवक ने बताया—"रानियों ने एक एक चूड़ी हाथ में रखकर बाकी उतार दी हैं। आवाज चूड़ियों की परस्पर रगड़ से होती थी। अब बन्द होगई।"

"ओह! मैं अब समझा।" राजा ने इस तरह कहा जैसे कोई भूली हुई वस्तु मिल गई हो। "जहाँ दो होते हैं वहीं संघर्ष, अशान्ति तथा द्वन्द्व खड़े होते हैं। जहाँ व्यक्ति अकेला हो वहां कोई अशान्ति नहीं होती।"

चन्दन के लेप से राजा के शरीर में काफी शान्ति हो गई थी। जीवन—रहस्य की इस अनुभूति ने उसे नया बल

प्रदान कर दिया । वह शय्या से उठ बैठा और अपने आप कहने लगा।

"हे मानव ! तू शरीर और आत्मा रूप दो तत्वों से रचा गया है। जहाँ दो हैं, वहाँ सदा भय है। वहाँ संघर्ष और अशान्ति रहते ही हैं। इसी संघर्ष के कारण प्राणी संसार में भटकते हैं। यदि तू चिर शान्ति प्राप्त करना चाहता है तो अकेला हो जा।"

राजा अशान्ति के कारण को समझ लेता है और गार्हस्थ्य का त्याग करके मुनिव्रत अंगीकार करने के लिए तैयार होता है। कंठ, बाहु, कटि, अंगुली आदि अंगों पर चमकते हुए अलङ्कारों को उतारने लगता है। मन्त्री, रानियां, पार्श्वचर तथा अन्य सेवक आश्चर्य में पड़ जाते हैं। नगर में बात फैलती है और हाहाकार मच जाता है। नमिराजा सर्वप्रिय था, इसलिए प्रजा अत्यन्त दुखी हो उठती है।

उसी समय एक ब्राह्मण आता है और राजा से प्रार्थना करता है— "राजन् ! आपके संसार त्याग की बात सुनकर सारी मिथिला में हाहाकार मच गया है। आप जरा देखिए तो सही ! ऐसा प्रतीत होता है जैसे आपके महल और अन्तःपुर जल उठे हों।"

नमि ने उत्तर दिया—"न तो महल मेरे हैं और न अन्तःपुर मेरा है। मिथिला के जलने से मुझे क्या ? मैं तो अकेला रहने ही में सुख मानता हूँ। अन्तःपुर तथा प्रजाजन के दुख का कारण आसक्ति है मोह है। इसका अन्त होना ही उचित है। जिस व्यक्ति ने स्त्री पुत्र आदि परिवार को छोड़ दिया उसे न कोई प्रिय है, न कोई अप्रिय है। वह तो भिक्षु हो जाता है। संसार के द्वन्द्वों से अलग होकर अकेले विचरण करता है।"

सभी को छोड़कर नमिराजा वन को ओर चल पड़ता है। यहीं नाटक पूरा हो जाता है।

(४)

सारे प्रेक्षागृह में करुणा और वैराग्य छा गया। कुछ देर तो ऐसा वातावरण बना रहा जैसे वह नाटक न होकर सच्ची घटना हो। सभी दर्शक स्तब्ध बैठे रहे।

विशाखदत्त को अभिनन्दन देने की इच्छा से राजकुमारने दृष्टि घुमाई। विशाखदत्त हाथ जोड़कर खड़ा था। कुमार की दृष्टि पड़ते ही उसने कहा—"कुमार। अब मैं जाने की अनुमति चाहता हूँ।"

"ठहरिए। अपने पारितोषिक की लाख मुद्राएँ तो लेते जाइये" कुमार ने प्रसन्न होते हुए कहा।

"बस अब; मुझे मुद्राएँ नहीं चाहिए। मैं तो अब जाने के लिए तैयार बैठा हूँ।" विशाखदत्त ने विरक्ति के साथ कहा।

"कहाँ जाएँगे पण्डितजी ?" राजकुमार ने चकित होकर पूछा।

'जहाँ नमिराजा गया है।"

"यह आप क्या कह रहे हैं ?"

"कुमार मैं अशान्ति से तंग आचुका हूँ। शान्ति खोज रहा था। मेरे सरीखे व्यक्ति के लिए यही सच्चा मार्ग है! और कहीं शान्ति नहीं है। एकत्व में ही शान्ति है। इसी का नाम मोक्ष है।"

कुमार सुनकर स्तब्ध रह गया। उसने कहा "पण्डितजी यह तो नाटक था। आपका ही रचा हुआ! नमिराजा यहाँ

कहाँ था वह तो नाट्याचार्य शारङ्गपाणि अभिनय कर रहा था ।

"कुमार ! मैं यह सब जानता हूँ । इस नाटक को लिखते समय मेरे मन में कई वार विरक्ति आई किन्तु वह परिपाक तक नहीं पहुँच सकी । इस अभिनय को देख कर उसका परिपाक हो गया है । मुझे जाने के लिए मार्ग दीजिये ।"

प्रेक्षकों ने मार्ग छोड़ दिया । उनकी आँखें आंसुओं से भरी हुई थीं । विशाखदत्त नाट्यगृह से निकलकर सीधे वन की ओर चले गए ।